तुलसी के राम
सत्यनारायण सिंह
बहुजनहिताय बहुजनसुखाय
आकाशवाणी
प्रकाशन विभाग

गोस्वामी तुलसीदास

आकाशवाणी पुस्तकमाला

तुलसी के राम

सत्यनारायण सिंह

प्रकाशन विभाग
सूचना और प्रसारण मन्त्रालय,
भारत सरकार, दिल्ली-6

प्राक्कथन

प्रस्तुत ग्रन्थ समय-समय पर आकाशवाणी से भगवान राम, उनके भक्त तुलसी और राम-राज्य के विभिन्न पक्षों पर दी गई हमारी स्फुट वार्त्ताओं का एक सामान्य-सा संकलन है। इसका अभिप्रेतार्थ-राम, तुलसी या राम-राज्य की विशद व्याख्या करना अथवा रामचरितमानस का कोई सांगोपांग विवेचन करना कदापि नहीं है। वार्त्ताएं जिस काल-क्रम से प्रसारित की गईं, उसी के अनुसार इस संग्रह में रख दी गई हैं। इससे जहां समय की सीमा के कारण बहुत-सा कथ्य छूट गया है, वहां कुछ पृथक-पृथक वार्त्ताएं होने के कारण कुछ स्थानों पर कुछ प्रसंगों की पुनरावृत्ति भी हो गई है। वार्त्ता-विशेष के अंग-भंग होने के डर से हमने उनमें काट-छांट करना उचित नहीं समझा है। वैसे भी हर वार्त्ता अपने-आप में स्वतन्त्र तथा पूर्ण है और उसमें विषय की एक संक्षिप्त झांकी भर है।

इस सम्बन्ध में हमें यह नम्र निवेदन करना है कि पाठक इस ग्रन्थ से इस भ्रम में न पड़ें कि हमने तुलसी और उनके इष्टदेव राम पर अधिकार-पूर्वक कोई भाष्य या समीक्षा प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। हम अपने-आपको ऐसा करने का न तो अधिकारी मानते हैं और न सारे समय राजनीति में बुझे रहने के कारण ऐसा करने का सुयोग मिलना ही सम्भव है। सच तो यह है कि पूरे रामचरित मानस का विधिवत् पाठ करने का सुअवसर हमें आज तक भी प्राप्त नहीं हुआ है। बचपन में जिस प्राथमिक पाठशाला में हम पढ़ा करते थे, उसमें गुरुजी छात्रों को रामायण पढ़ाया करते थे और उसका अर्थ भी बताते जाते थे। हम भी दूर खड़े सुना करते थे। हमारी समझ में तो कुछ नहीं आता था पर जो कुछ गुरूजी को पढ़ाते सुना, बाद में उसी को दोहरा कर हम अलग से अपनी रामायण की कथा कहने लगे। इससे रामायण के प्रति एक ऐसा सहज परिचय और आत्मीयता हो गई कि जब कभी किसी पाठ्यपुस्तक में रामायण के अंश आते, तो हम उन्हें अधिक रुचि के साथ पढ़ते और दूसरे छात्रों को भी उनका अर्थ समझाते। जो देखता, उसे ऐसा लगता मानो हमने रामायण का विशेष रूप से अध्ययन किया हो। पर पूरी रामायण हमने कभी भी नहीं पढ़ी। ज्यों-ज्यों उम्र बढ़ती गई और शिक्षण का क्रम भी तथा उसी के साथ रामायण के प्रति असाधारण रुचि भी बढ़ी, तो सहसा जैसे एक सत्य उजागर हुआ। हमें लगा मानो हमने पूर्व जन्म में रामायण का अध्ययन अवश्य किया होगा,

तभी तो बिना अच्छी तरह पूरा पढ़े भी इस जन्म में हम उसे याद रख पाए। जैसे कोई किसी गीत की कड़ी दोहरा दे, तो जिसे वह याद होगा, उसे उसके शब्द दोहराने में कोई कठिनाई नहीं होगी, इसी तरह हमें भी रामायण को इस जन्म में दोहराने का कोई प्रयास नहीं करना पड़ा।

हमारे कई कृपालु साहित्यिकों को इस पर कभी-कभी कुछ आश्चर्य भी हुआ है। एक बार राष्ट्रकवि मैथिलीशरणजी गुप्त ने 'रामचरितमानस' पर हमारा एक प्रवचन सुनकर सुखद आश्चर्य प्रकट करते हुए कहा था कि 'इस ग्रन्थ का अध्ययन तो हमने भी कई बार किया है, पर आप में तो जैसे तुलसी की आत्मा ही उतर आई है।' काशी के सुप्रसिद्ध रामायणी पण्डित विजयानन्द त्रिपाठी ने भी– जिनका लिखा हुआ मानस का भाष्य आधुनिक भाष्यों में सर्वश्रेष्ठ है और जिस पर उन्हें 'मानस-मराल' की उपाधि से सम्मानित किया जा चुका है,—मानस सम्बन्धी मेरा प्रवचन सुनकर कहा था कि मैं 73 वर्ष का हो चुका हूं और संकटमोचन के इस पवित्र धाम में असत्य नहीं बोलूंगा। सच कहता हूं कि आपने शेक्सपियर और तुलसी तथा सूर और तुलसी पर जो तुलनात्मक विचार प्रकट किए हैं, जिस ढंग से तुलसीदास की श्रेष्ठता का प्रतिपादन किया है, तथा तुलसी के पदों की जो व्याख्याएं की हैं, वैसी मैंने पहले कभी नहीं सुनीं। यह हमें तो कुछ ऐसा लगा कि सारी प्रशंसा के अधिकारी हम नहीं हैं। जिस मंगलमय भगवान राम ने इसी संकटमोचन में तुलसी बाबा को 'रामचरित मानस' की रचना की सत्प्रेरणा दी, उसी की कृपा से हम भी ढाई घण्टे तक उसका गुणगान कर सके। वह दिन हमें आज भी भूलता नहीं है।

'रामचरितमानस' की महत्ता और व्यापकता के बारे में दो मत नहीं हो सकते। तुलसी और उनके इष्टदेव राम के बारे में भी कम नहीं कहा या लिखा गया। पर ऐसा लगता है कि उनकी जब-जब और जितनी भी अधिक चर्चा की जाए, उसमें जैसे एक नया रस, नया आनन्द ही आता है। तुलसीदास ऊंचे से ऊंचे सन्त, ऊंचे से ऊंचे भक्त, ऊंचे से ऊंचे कवि, ऊंचे से ऊंचे लोकनायक और दिव्य-द्रष्टा थे। इनमें से किसी एक गुण में शायद कोई और कवि उनसे बढ़-चढ़ कर हो सकता है, पर कुल मिलाकर इन सब गुणों में तुलसीदास की तुलना में और कोई भी एक कवि पासंग में भी नहीं ठहर सकता। 'रामचरितमानस' और अपनी अन्यान्य रचनाओं में कहीं भक्त के रूप में, कहीं अध्यात्मवादी के रूप में, तो कहीं केवल कवि के रूप में, पर इनमें से किसी भी रूप में तुलसी ने अपने इष्टदेव की चरित-चर्चा में कहीं भी हल्कापन या आंच नहीं आने दी है। उदाहरण के लिए वाल्मीकि की तरह तुलसी ने 'रामचरितमानस' में लव-कुश काण्ड नहीं लिखा। इसका कारण यह नहीं कहा जा सकता कि तुलसी इस सत्य को छिपाना

चाहते थे पर वे कालिदास या बाल्मीकि की तरह कोई कवि तो थे नहीं, जिन्होंने कि केवल लोकापवाद के भय से राम द्वारा सीता को त्यागने की बड़ी-कड़ी आलोचना की और स्वयं राम के मुंह से इस अन्याय एवं अनौचित्य की स्वीकृति भी करवाई। कालिदास के अनुसार तो सीता को लक्ष्मण ने यह बताया ही नहीं कि वे उन्हें वन में छोड़ने लाए हैं। उन्हें तो यही बताया गया कि वे सीता को गंगा-तट के मुनि-आश्रमों को दिखाने लाए हैं, पर जब उन्होंने सीता को राम का असली आदेश सुनाया, तो वे मूर्छित हो गईं और उन्होंने जहां सास-ससुर आदि के प्रति अपना आत्मीयतापूर्ण मनोभाव प्रकट किया, वहीं राम को 'पति' न कहकर 'अपने महाराज' कहकर सन्देशा भेजा। यही बात भवभूति ने 'उत्तर-रामचरित' में भी कहलवाई है– 'वाच्यस्त्वया मद्वचनात् सा राजा' अर्थात् अपने राजा से (मेरे पति से नहीं) जाकर मेरे ये वचन कहना। पर तुलसीदास तो कवि होने के साथ ही राम के अनन्य भक्त और स्वयं परम सन्त भी थे। वे अपने इष्टदेव की इस दुर्बलता और कलंक-कथा का वर्णन भला कैसे करते? फिर भी अपने मन का बोझ हल्का करने के लिए उन्होंने उत्तरकाण्ड में इस ओर एक परोक्ष संकेत कर दिया है—और वह भी ऐसा, जिससे राम के प्रति किसी भी प्रकार का आक्षेप न हो। जहां उन्होंने भरत, लक्ष्मण और शत्रुघ्न के पुत्रों का वर्णन करते हुए कहा :

दुइ दुइ सुत सब भ्रातन्ह केरे। भए रूप गुन सील घनेरे॥

वहां राम के दोनों सुतों के सम्बन्ध में :

दुइ सुत सुन्दर सीता जाए। लव कुश बेद पुरानन्ह गाए॥

पहले राम के भाइयों के दो-दो लड़कों का स्पष्ट उल्लेख है, उनकी माताओं का नहीं। पर लव-कुश को राम के सुत न कह कर 'सीता जाए' कहना पड़ा। अपने इष्टदेव के प्रति यह कवि नहीं, भक्त तुलसी की विचक्षणता है। सत्य को उन्होंने प्रकट भी कर दिया और अपने इष्टदेव के प्रति परोक्षरूप से भी लांछन का इंगित नहीं।

तुलसी के इन्हीं राम और उनके राज्य के कतिपय पक्षों की चर्चा इस ग्रन्थ में हुई है। प्रसंगवश तुलसी की विशिष्टता का भी उल्लेख हुआ है। यदि इसके पारायण से पाठकों में 'रामचरितमानस' राम और तुलसी के अध्ययन के प्रति थोड़ी भी उत्सुकता या रुचि पैदा हो सकें, तो हम अपना यह परिश्रम सार्थक समझेंगे। 'रामचरितमानस' एक सार्वदेशिक एवं सार्वकालिक संहिता है, जिसका अधिक से अधिक अध्ययन होना अभीष्ट है।

19 अकबर रोड,
नई दिल्ली।

—सत्यनारायण सिंह
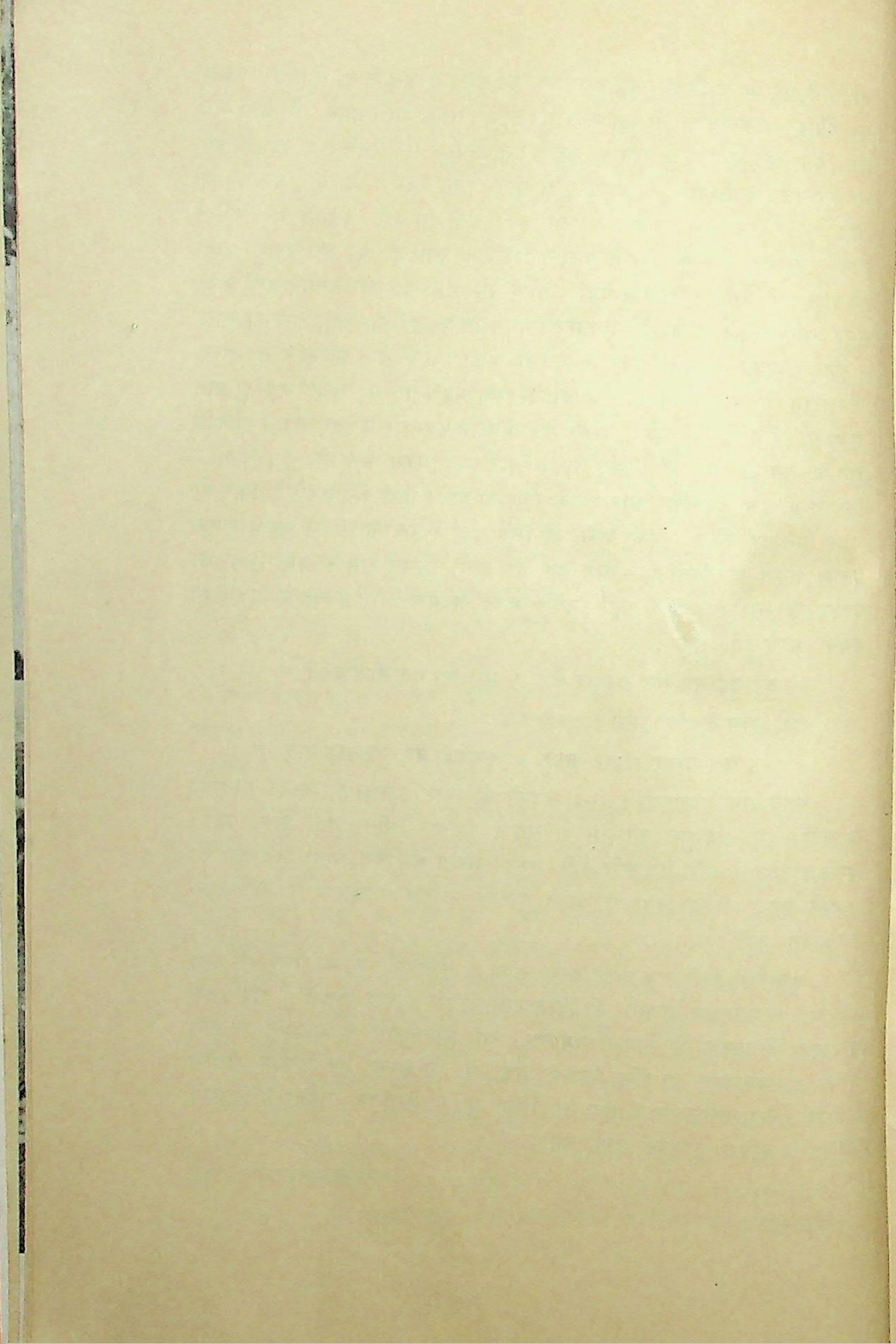
विषय सूची

तुलसी और उनका काव्य–एक

गोस्वामी तुलसीदास और उनकी रचनाओं का हिन्दी साहित्य में क्या स्थान है, इस विषय पर अनेक विद्वानों और आलोचकों के उच्चकोटि के ग्रन्थ उपलब्ध हैं। मैंने आपके सामने इस विषय को लेकर उपस्थित होने का साहस किया है, उसका कारण यह नहीं है कि मैंने तुलसी और उनके काव्य पर कोई विशेष खोज की है या आपको कोई नई बात बताने जा रहा हूं। इस विषय की चर्चा करने का मेरा अधिकार केवल इतना ही है कि बार-बार के मनन और अध्ययन के पश्चात तुलसीकृत रामचरित मानस मेरे जीवन की प्रियतम पुस्तक बन गई है। उसके कुछ स्थल तो ऐसे बन गए हैं, मानो अपने जीवन की स्वानुभूति हों। आज के इस प्रथम और आगामी कुछ प्रवचनों में मैं आपके सामने गोस्वामी तुलसीदास के जीवन तथा उनके द्वारा वर्णित रामकथा के कुछ ऐसे ही स्थलों की चर्चा करना चाहता हूं।

संसार के इतिहास में ऐसे विद्वानों और महापुरुषों की संख्या बहुत कम है, जिनका अपने जीवन-काल में ही तत्कालीन समाज द्वारा मूल्यांकन हो पाता है। गोस्वामी तुलसीदास के विषय में उनके समकालीन कवि तथा बादशाह अकबर के सभासद अब्दुर्रहीम खानखाना के श्रद्धापूर्ण विचार उल्लेखनीय हैं। कहते हैं कि एक बार जब गोस्वामीजी ने एक गरीब ब्राह्मण को उसकी लड़की की शादी में आर्थिक सहायता के लिए रहीम के पास भेजा, तो एक दोहे का प्रथम चरण इस प्रकार लिख कर दे दिया **'सुरतिय नरतिय नागतिय, यह चाहत सब कोय'** उदार और कवि-हृदय रहीम ने ब्राह्मण की सहायता तो की ही, उत्तर में दोहे के दूसरे चरण की पूर्ति करके गोस्वामीजी को इस प्रकार लिखा :

> **सुरतिय नरतिय नागतिय यह चाहत सब कोय।**
> **गोद लिए हुलसी फिरे तुलसी सो सुत होय॥**

कविवर रहीम के इन शब्दों से पता चलता है कि गोस्वामीजी के निर्मल चरित और अद्वितीय पाण्डित्य के प्रति जनसाधारण में ही नहीं, बल्कि उस समय के विद्वानों और विचारकों में भी कितने आदर और श्रद्धा का भाव मौजूद था।

अब जहां तक तुलसीदासजी की रचनाओं तथा उनकी काव्य-प्रतिभा का प्रश्न है, उसमें कोई सन्देह नहीं कि वह एक उच्चकोटि के कवि एवं साहित्यिक थे । इस सम्बन्ध में मुझे दो तीन साल पहले की एक घटना याद आती है। मेरे घर पर कुछ बड़े विद्वान आए थे। बातचीत के सिलसिले में हिन्दी की चर्चा चल पड़ी, उनमें से एक ने कहा—देखो हिन्दी को हम लोगों ने राष्ट्रभाषा तो मान लिया है, लेकिन हिन्दी में अभी बहुत कमी है, कोई भी ऐसा ग्रन्थ नहीं है, जिस पर हम गर्व कर सकें या जिसका अन्य साहित्यों में बड़े ग्रन्थों से मुकाबला कर सकें। उनकी आखिरी बात सुनकर मैं कुछ आवेश में आ गया। मैंने कहा—आप बड़े विद्वान हैं बड़े सिद्धहस्त लेखक हैं लेकिन आपने एक ऐसी बात कही है जो मालूम होता है बिना सोचे विचारे कह दी। उन्होंने कहा, क्यों ? मैंने कहा—आपको शायद पता नहीं या आपने कभी पढ़ने और समझने का कष्ट नहीं किया, वर्ना हिन्दी साहित्य में एक ऐसा ग्रन्थ है, जिसका संसार के किसी भी साहित्य के बड़े से बड़े ग्रन्थ से मुकाबला किया जा सकता है, और वह महाग्रन्थ है–गोस्वामी तुलसीदास द्वारा रचित रामचरितमानस। रामचरितमानस वह कोहेनूर है, जिसका दुनिया के साहित्य के हज़ारहों हीरे इकट्ठा होकर भी मुकाबला नहीं कर सकते। मेरी बात सुनकर वह कुछ घबराए। मैंने कहा, घबराइए नहीं, आप विद्वान हैं। आपकी ईमानदारी पर मुझे पूरा भरोसा है। तुलसीदास और रामचरितमानस के विषय में मैं जो कुछ आपके सामने पेश करता हूं, उसे सुनकर आप खुद अपनी राय दें।

उच्च काव्यादर्श

मैंने सबसे पहले उनके सामने गोस्वामीजी के उच्च काव्यादर्श की बात रखी, क्योंकि मेरे ख्याल से जिसका आदर्श जितना ही ऊंचा होता है, वह उतनी ही दूर तक उस आदर्श के पीछे चलता है। "ही हू शूट्स हायेस्ट, शूट्स हायर दैन स्काई" : मैंने कहा कि शायद ही आज तक किसी अन्य कवि अथवा साहित्यिक ने अपने सामने रखा। इस आदर्श की प्रतिष्ठा उन्होंने अपने महाकाव्य के मंगलाचरण में ही की :

वर्णानामर्थसंघानां रसानां छंदसामपि।
मंगलानां च कर्तारौ वंदे वाणीविनायकौ ॥

सबसे पहले तुलसीदास ने वर्ण अथवा अवसर चुने। इसके बाद उन्होंने सोचा कि वर्ण अर्थ संघ में होने चाहिए। लेकिन वर्णों के अर्थ संघ में होने से ही तो कविता नहीं बन जाती। उसमें इस ओर छन्द भी तो होने चाहिए। साधारण कवि के लिए काव्य के ये ही चार आवश्यक अंग हैं, वर्ण, अर्थ, रस और छन्द

परन्तु तुलसीदास को इतने से ही सन्तोष नहीं हुआ। उनके लिए इन सबसे बढ़ कर कविता का मंगलदायिनी होना आवश्यक था। जिस कविता से देश, जाति, धर्म और समाज का कल्याण न हो, वह किसी काम की नहीं। कवि जिस युग और देश में पैदा होता है, यदि उसकी कविता से उस युग और देश की उन्नति न हो, उसका स्तर ऊंचा न हो तो, उस पर कोई प्रभाव न पड़े, तो ऐसी कविता उस स्त्री की तरह है, जिसमें अनुपम सौन्दर्य होने के बावजूद भी चरित्र का अभाव है। यही कारण है कि, जहां एक ओर तुलसीदास वर्ण, अर्थ, रस और छन्द की साधना के लिए सरस्वती की स्तुति करते हैं, वहीं दूसरी ओर अपनी कविता को मंगलदायिनी बनाने के लिए विनायक अर्थात् गणेश की वंदना भी करते हैं। वाणी और विनायक की एक साथ वंदना आपको अन्यत्र नहीं मिलेगी। यह तुलसीदास की अपनी विशेषता है।

भाषा का चुनाव

मेरे उस विद्वान मित्र के दिमाग में एक दूसरा ख्याल यह भी बैठा हुआ था कि गोस्वामीजी संस्कृत के कोई अच्छे विद्वान न थे। हमने उनकी इस धारणा को भी निकालने का प्रयत्न किया, क्योंकि असलियत से इसका कोई सम्बन्ध न था। तुलसीदास संस्कृत के इतने बड़े विद्वान थे और उसमें इतनी अच्छी कविता कर सकते थे कि कदाचित संस्कृत को ही उन्होंने अपने काव्य का माध्यम बनाया होता तो शायद लोग बालमीकि और व्यास को भी भूल जाते। मैंने दृष्टांत स्वरूप गोस्वामीजी के एक दो श्लोक उनको सुनाए, यथा—

> यस्यांके च विभाति भूधरसुता देवापगा मस्तके
> भाले बालविधुर्गले च गरलं यस्योरसि व्यालराट्॥
> सोऽयं भूतिविभूषणः सुरवरः सर्वाधिपः सर्वदा।
> शर्वः सर्वगतः शिवः शशिनिभः श्रीशंकरः पातु माम्॥
> कर्पूरगौरं करुणावतारं संसारसारं भुजगेन्द्रहारम्।
> सदा वसन्तं हृदयारविन्दे भवं भवानी सहितं नमामि॥
> मनोजवं मारुततुल्यवेगं जितेन्द्रियं बुद्धिमतां वरिष्ठम्।
> वातात्मजं वानरयूथमुख्यं श्री रामदूतं शरणं प्रपद्ये॥
> अतुलितबलधामं स्वर्णशैलाभदेहं दनुजवनकृशानुं ज्ञानिनामग्रगण्यम्।
> सकलगुणनिधानं वानराणामधीशं रघुपतिप्रियभक्तं वातजातं नमामि॥

इन मधुर श्लोकों का पदलालित्य और भाषा प्रवाह देखकर मेरे मित्र की आंखें खुलीं। मैंने उन्हें आगे बताया कि तुलसीदासजी ने स्वयं भी बड़े विनम्र शब्दों में इस बात का निर्देश किया है कि रामचरितमानस की रचना

ग्रारम्भ करने से पहले उन्होंने संस्कृत भाषा में उपलब्ध विशाल ज्ञानराशि का भलीभांति ग्रध्ययन कर लिया था, लेकिन चंकि उन्हें ग्रपनी पुस्तक जनसाधारण के लिए लिखनी थी, उन्होंने जानबूझ कर तत्कालीन भाषा ग्रर्थात हिन्दी को ग्रपनी ग्रमर रचना का माध्यम बनाया ।

नाना पुराण निगमागमसंमतं यद्
रामायणे निगदितं क्वचिदन्यतोऽपि ।
स्वान्तः सुखाय तुलसी रघुनाथगाथा
भाषा निबन्धमतिमंजुलमातनोति ।।

तुलसीदासजी ने रामायण की रचना संस्कृत में क्यों नहीं की, हिन्दी को ही क्यों ग्रपनाया, इसे महात्मा गान्धी के उदाहरण से समझा जा सकता है। ग्रंग्रेज़ी के उच्चकोटि के लेखक ग्रौर वक्ता होने के बावजूद भी सन् 1917-18 में दक्षिण ग्रफ्रीका से लौटने पर गांधीजी ने ग्रपनी टूटी-फूटी ग्रौर भद्दी हिन्दी में ही बोलना ग्रारम्भ किया। मुझे याद है कि जब कांग्रेस के विशेष ग्रधिवेशन में प्रस्ताव पर बोलने के लिए उठे तो स्वर्गीय मुहम्मदग्रली ने उनसे कहा कि यदि ग्राप हिन्दी में बोलिएगा तो यह प्रस्ताव कभी पास न हो पाएगा क्योंकि यहां हिन्दी समझनेवाले बहुत कम हैं ग्रौर लोग ग्राप की बात ग्रौर तर्कों को समझ नहीं पाएंगे ।

इन सबके बावज़ूद हिन्दी में लिख लेने के बाद गोस्वामीजी की वही दशा हुई, जो प्रत्येक सुधारक ग्रौर ग्रग्रणी की होती है । काशी के बड़े-बड़े पण्डित, जिनमें संस्कृत की मर्यादा बनाए रखने में एक प्रकार का निहित स्वार्थ उत्पन्न हो गया था, तुलसीदास के शत्रु बन गए। उन्होंने देखा कि संस्कृत ग्रन्थों से उपलब्ध जिस वेद ग्रौर उपनिषद के ज्ञान पर ग्रब तक उनका एकाधिकार था, वह ज्ञान गोस्वामीजी के रामचरितमानस द्वारा सर्वसाधारण की सम्पत्ति बन गया है । इन पण्डितों ने गोस्वामीजी को हर प्रकार से नीचा दिखाना चाहा, उनकी हत्या तक के षड़यंत्र रचे गए। जिस वक्त मानस की चर्चा से सारा उत्तर भारत गूंजने लगा, काशी के पण्डितों ने तुलसीदास को नीचा दिखाने का एक नया उपाय सोच निकाला। उन्होंने तय किया कि वेद, पुराण, स्मृति ग्रादि संस्कृत ग्रन्थों के साथ सब से नीचे तुलसीकृत रामायण को रख कर विश्वनाथ जी के मन्दिर में बन्द कर दिया जाए ग्रौर दूसरी सुबह देखा जाए कि स्वयं काशीपति विश्वनाथ क्या फैसला देते हैं। कहते हैं कि ठीक ऐसा ही किया गया। मानस को सबसे नीचे रखकर किवाड़ बन्द कर दिए गए ग्रौर मन्दिर की चाबी किसी तीसरे व्यक्ति के पास रख दी गई। सुबह किवाड़ खोले गए तो देखा गया कि जितने भी वेद, पुराण, शास्त्रादि थे, वे सब नीचे पड़े हुए हैं। तुलसीदासजी का 'मानस' सबसे ऊपर है ग्रौर उस पर लिखा हुग्रा है—सत्यं शिवं सुन्दरम् ।

मानस की सर्वांगीणता

उपरोक्त किंवदन्ती सही हो या गलत परन्तु यह बिल्कुल सही है कि तुलसीदास के रामचरित मानस में जीवन की शायद ही कोई ऐसी परिस्थिति हो, जिसका चित्रण न हो या ऐसी कोई समस्या हो जिसका समाधान उसमें न हो।

इस विषय में भी मुझे गान्धीजी से सम्बन्धित एक घटना याद आती है। सन् 1920 की बात है, गान्धीजी विहार का दौरा कर रहे थे। दरभंगा जिले की एक बड़ी सभा में बोलते समय उन्होंने हिन्दी प्रचार का जिक्र किया, वहां पर कुछ वंगाली युवक खड़े थे। शायद उन्हें यह सुझाव पसन्द न आया। वे गान्धीजी से पूछ बैठे कि आप जो बार-बार हिन्दी पढ़ने की बात कहते हैं, सो हिन्दी में कोई पढ़ने लायक ग्रन्थ भी है? गान्धीजी ने हंसकर कहा कि बड़े मूर्ख हो; वैसे तो हिन्दी में अनेक उच्च कोटि के ग्रन्थ हैं परन्तु सब को छोड़कर अगर केवल तुलसीदास के रामचरित मानस को ही उठा लो तो उसी में जो कुछ तुम्हें चाहिए सब मिल जाएगा। नवयुवकों ने तत्क्षण पूछ दिया कि फिर जिस 'असहयोग आन्दोलन' की बात आप कर रहे हैं, क्या वह भी मानस में मिल जाएगा। गान्धीजी का मानस का अध्ययन कितना सूक्ष्म और गहन था, देखने लायक है। उन्होंने कहा कि असहयोग या 'नान कोआपरेशन' की सबसे अधिक प्रेरणा मुझे मानस ही से मिली है, उद्धरण के रूप में उन्होंने सुन्दर काण्ड में वर्णित उस स्थल का उल्लेख किया, जहां अबला जानकी रावण सरीखे अत्याचारी और प्रतापी राक्षस की कैद में बन्द थी, चारों तरफ से असहाय और अकेली सीता प्रहरियों, राक्षसों और पर-पुरुषों से घिरी हुई थी। रावण सीता के पास आता है और अपनी तलवार दिखाकर कहता है कि एक महीने के अन्दर तुम्हें मुझसे विवाह करना होगा, वरना इसी तलवार से तुम्हारी गर्दन अलग कर दी जाएगी। एक ऐसी भयंकर परिस्थिति में जिसमें बड़ों-बड़ों का साहस छूट जाए, माता जानकी दुष्ट रावण को जो उत्तर देती हैं, सक्रिय असहयोग का उससे सुन्दर उदाहरण मिलना कठिन है। अपने परमस्नेही कौशलाधीश रामचन्द्र का स्मरण करके तिनके की ओट से जानकीजी कहती हैं :

स्याम सरोज दाम सम सुन्दर, प्रभु भुज करिकरसम दसकंधर।
सो भुज कंठ कि तव असि घोरा, सुनु सठ अस प्रमान पन मोरा॥

सीताजी ने कहा कि मेरे प्रभु भगवान रामचन्द्रजी की भुजाएं श्याम कमल की माला के समान सुन्दर तथा हाथी के सूंड के समान सुडौल और बलशाली हैं। सो हे शठ रावण, मेरे कंठ में प्रभु की या तो वे भुजाएं पड़ सकती हैं या तेरी तलवार, मेरा कठोर प्रण है कि इस गर्दन को तीसरी कोई चीज़ स्पर्श भी नहीं कर सकती।

गान्धीजी ने कहा कि असहयोग का इससे सुन्दर उदाहरण और कहां मिल सकता है, प्रश्न करने वाले नवयुवक मुंह की खाकर चुप हो गए ।

इसी प्रकार गान्धीजी के दूसरे सिद्धान्त 'सत्य' का भी गोस्वामीजी ने बड़े ज़ोरदार शब्दों में प्रतिपादन किया है। महात्माजी ने उस अवसर पर तुलसीदास की यह चौपाई भी उद्धृत की :

'नहिं असत्य सम पातक पुंजा, गिरि सम होंहि कि कोटिक गुंजा ।।

गान्धीजी रामचरित मानस को विश्व-साहित्य की एक उत्कृष्ट कृति मानते थे। वे कहा करते थे कि हमारे जीवन में रामचरित मानस का वही स्थान है, जो भोजन में दूध का। जिस प्रकार दूध के स्थान पर कोई दूसरी एक चीज़ ऐसी नहीं है, जिसमें दूध के सभी गुण मिल सकें, वैसे ही किसी भी साहित्य का कोई एक ग्रन्थ रामचरित मानस की तुलना नहीं कर सकता। हमारे जो भाई शेक्सपियर, मिल्टन और वर्ड्सवर्थ की रचनाएं पढ़ कर झूमने लगते हैं तथा अपनी चीज़ों की तरफ निगाह डालना भी गुनाह समझते हैं, उनके सामने गान्धीजी की इस विचारधारा को पेश करना चाहता हूं। यदि वे अपने बाप-दादों की इस अमूल्य निधि को देखें और समझें, तो उन्हें पता चलेगा कि दुनिया की कोई चीज़ ऐसी नहीं, जो हमारे प्राचीन ग्रन्थों में उपलब्ध न हो।

लोकनायक तुलसी

सजीव साहित्य में अपने समकालीन समाज की समस्याओं, आकांक्षाओं और विचारों का प्रतिबिम्ब अवश्य पड़ता है। यदि ऐसा न हो तो उस साहित्य को जनता का प्रतिनिधि नहीं कहा जा सकता। गोस्वामी तुलसीदास का साहित्य इस कसौटी पर खरा उतरता है। गोस्वामीजी जहां एक तरफ बहुत बड़े सन्त, द्रष्टा और महाकवि थे, वहीं वे अपने समय के लोकनायक भी थे। उनका सम्पूर्ण साहित्य और विशेषकर रामचरित मानस उनके इन चार गुणों से ओत-प्रोत है। दुनिया में सन्तों और महाकवियों की कमी नहीं है, लेकिन इन चार महान गुणों का समन्वय एक ही व्यक्ति में तुलसीदास के अतिरिक्त शायद ही अन्यत्र मिले और यही कारण है कि तुलसीदास जैसी सर्वांगीणता आपको किसी दूसरी भाषा के कवि या साहित्यिक में देखने को न मिलेगी।

सोलहवीं और सत्रहवीं शताब्दी के भारत की जो सामाजिक, धार्मिक और सांस्कृतिक समस्याएं थीं, उन सबका किसी न किसी रूप में गोस्वामीजी की कृतियों में समावेश है तथा अपने ढंग से उन्होंने हर एक का कोई न कोई समाधान भी प्रस्तुत किया है।

धार्मिक क्षेत्र में उस समय रामानुज और शंकराचार्य के अनुयायियों के झगड़े से सारा उत्तर और दक्षिण भारत धार्मिक कट्टरता और असहिष्णुता का अखाड़ा बन रहा था। गोस्वामीजी ने शैवों और वैष्णवों के इस मिथ्या विवाद को मिटाने का कार्य अपने हाथ में लिया। रामचरितमानस और विनय पत्रिका में आरम्भ से लेकर अन्त तक इस प्रकार के अनेक आख्यान आते हैं, जहां गोस्वामीजी ने शिव और विष्णु की एकरूपता इस सूक्ष्मता और कौशल से सिद्ध की है कि पढ़ने वाले को उसमें विशेष प्रयोजन का आभास न हो, परन्तु यदि उसके मन में इस प्रकार का कोई वैषम्य मौजूद हो, तो वह अपने आप दूर हो जाए।

अनेक स्थलों पर तुलसीदास राम के मुंह से शिव का और शिव के मुंह से राम अथवा विष्णु का ऐसा प्रशंसापूर्ण वर्णन कराते हैं कि दोनों में कौन बड़ा और कौन छोटा है, यह निर्णय करना असम्भव हो जाता है। आपको नारद मोह की कथा याद होगी—क्रोध में नारद ने भगवान विष्णु को कितना बुरा भला कहा और अन्त में शाप दिया कि :

मम अपकार कीन्ह तुम्ह भारी, नारि बिरह तुम्ह होब दुखारी ।।

लेकिन जब उनका क्रोध शान्त हुआ, तो अपनी गलती पर बहुत पछताए और भगवान विष्णु से पूछने गए कि उनके इस अपराध का प्रायश्चित किस प्रकार हो सकता है। आप जानते हैं तुलसीदास ने भगवान विष्णु के मुंह से क्या कहलवाया ?

जपहु जाइ संकर सतनामा। होइहि हृदय तुरत बिश्रामा ।
कोउ नहिं सिव समान प्रिय मोरें असि परतीति तजहु जनि मोरें ।
जेहि पर कृपा न करहिं पुरारी, सो न पाव मुनि भगति हमारी ।
अस उर धरि महि बिचरहु जाई, अब न तुम्हहि माया निअराई ।

राम के अनन्य भक्त और उपासक तुलसीदास ने अपने इष्टदेव के मुंह से शिव की तारीफ कराई। दूसरी तरफ जब वे राम महिमा का वर्णन करते हैं तो तुलना में शिवजी को भी लपेट लेते हैं।

ऐसो को उदार जग माहीं ।
बिनु सेवा जो द्रवै दीन पर राम सरिस कोउ नाहीं ।
जो गति जोग बिराग जतन करि नहिं पावत मुनि ग्यानी ।
सो गति देत गीध, सबरी कहुं प्रभु न बहुत जिय जानी ।।

यहां तक ठीक है, लेकिन आगे,

जो संपति दस सीस अरप करि रावन सिव पहं लीन्हीं,
सो संपदा विभीषण कहं अति सकुच सहित हरि दीन्हीं ।

कह कर तुलसीदास ने अपने आराध्य को शिव से ऊंचा सिद्ध कर दिया परन्तु यहीं पर बात समाप्त कर दी हो, सो बात नहीं, विनय पत्रिका में गोस्वामीजी ने दूसरे पक्ष के साथ भी पूरा न्याय किया, यहां आप देखेंगे कि शिव को उन्होंने विष्णु से श्रेष्ठ बता दिया :

दानी कहुं संकर सम नाहीं,
दीन-दयालु दिबोई भावै, जाचक सदा सोहाहीं,
जोग कोटि करि जो गति हरि सों, मुनि मांगत सकुचाहीं ।
बेद बिदित तेहि पद पुरारि पुर, कीट पतंग समाहीं ।
ईस उदार उमापति परिहरि अनत जो जांचन जाहीं ।
तुलसीदास ते मूढ़ मांगने, कबहुं न पेट अघाहीं ।।

इस प्रकार जहां कहीं अवसर मिला गोस्वामीजी ने शैवों और वैष्णवों के झगड़े को मिटाने का प्रयत्न किया और इस काम में वे सफल भी हुए ।

तुलसी और उनका काव्य—दो

जिस युग में तुलसीदासजी हुए, उसमें हिन्दू समाज तीव्र गति से नैतिक अध:पतन की ओर बढ़ रहा था। पुरानी परम्पराएं और मर्यादाएं विशृंखल हो रही थीं। समाज को एक ऐसे लोकनायक की सख्त जरूरत थी, जो इन मर्यादाओं को पुन: स्थापित कर सकता। गोस्वामीजी ने रामचरित मानस के अन्दर जितने भी प्रकार के भावगत सम्बन्ध हो सकते हैं, उन सबका ऐसा सहज और प्रभावशाली सामंजस्य उपस्थित किया कि उनकी रामायण सर्वसाधारण के लिए एक 'मारल कोड' बन गई। भाई-भाई के बीच क्या सम्बन्ध होना चाहिए, सन्तान का, माता-पिता तथा अन्य गुरुजनों के प्रति क्या कर्तव्य होना चाहिए, राजा और प्रजा का सम्बन्ध कैसा हो, शत्रु और मित्र के साथ कैसा व्यवहार हो, स्वामी और सेवक के सम्बन्ध कैसे हों, दाम्पत्य और पारिवारिक जीवन के आदर्श क्या हों आदि अनेक परिस्थितियों का चित्रण गोस्वामीजी ने इस स्वाभाविकता के साथ किया कि उनके द्वारा प्रतिपादित मर्यादाएं कोरे आदर्श की वस्तु न रहकर दैनिक व्यवहार की वस्तु बन गईं। आज भी गांवों के निरक्षर लोग करीब-करीब हर मौके और परिस्थिति के उपयुक्त चौपाइयां रामायण से उद्धृत करते सुने जा सकते हैं। शायद ही संसार के अन्य किसी काव्य-ग्रन्थ को इतनी लोकप्रियता प्राप्त हो।

हर परिस्थिति का उदाहरण देना तो यहां सम्भव नहीं है। भ्रातृ-प्रेम का कितना ऊंचा आदर्श गोस्वामीजी ने उपस्थित किया है, केवल इसी पर आपका थोड़ा समय लूंगा।

आप जानते हैं भाई-भाई का झगड़ा आज सब जगह किस तरह चल रहा है। हमारे देश में भी इसकी कोई कमी नहीं है। पैतृक-सम्पत्ति के लिए, धन के लिए या राज्य के लिए भाई-भाई का खून तक कर डालता है। इसके विपरीत. राम और भरत का भाईपन देखिए। पिता की आज्ञा से रामचन्द्र वन में जा चुके हैं। उनकी जगह पर भरत को राजा बनाने की आज्ञा देकर महाराज दशरथ स्वर्गवासी हो चुके हैं। ननिहाल से लौटने पर अयोध्या की जो दशा पाई, उसे देखकर भरत के ग्लानि और परिताप का कोई पारावार नहीं है। फिर भी, राज-काज तो चलना ही है। शुभ मुहूर्त देखकर कुलगुरु वसिष्ठ सचिवों और

महाजनों की प्रतिनिधि सभा बुलाकर भरत से राज-काज संभालने का आग्रह करते हैं। बार-बार समझाने पर भी जब भरत राजतिलक के लिए तैयार नहीं होते, तो वसिष्ठ कहते हैं :

बेद बिदित संमत सबही का। जेहि पितु देइ सो पावइ टीका।

कुल गुरु तथा जन प्रतिनिधियों द्वारा सर्व सम्मति से दी हुई व्यवस्था को अस्वीकार करने जैसी विकट परिस्थिति में भरत जो उत्तर देते हैं, वह सुनने लायक है :

मोहि राजु हठि देइहहु जबहीं। रसा रसातल जाइहि तबहीं।।
मोहि समान को पापनिवासू। जेहि लगि सीय राम बनबासू।।

यह सोचकर कि कैकेयी जैसी कुमाता के गर्भ से जन्म लेना ही आज उनके और अयोध्या के इतने बड़े दुर्भाग्य का कारण बना है, भरत के विषाद की सीमा नहीं है। बातें करते-करते भरी सभा में वे रो पड़ते हैं :

ग्रहग्रहीत पुनि बातबस, तेहि पुनि बीछी मार।
ताहि पिआइअ बारुनी, कहहु कवन उपचार।।

भरत कहते हैं कि कुटिल माता की कोख से उत्पन्न होने जैसे कठिन ग्रह जिसके ऊपर लगे हों, महाराज दशरथ जैसे प्रतापी पिता को पुत्र-वियोग में तड़पा कर मार डालने के भयंकर सन्निपात से जो पीड़ित हो, तथा प्राणों से भी प्रिय राम सरीखे भाई को 14 वर्ष का बनवास देने जैसे विषैले बिच्छू ने जिसे डंक मार दिया हो, उसे आप राज रूपी मदिरा ऊपर से लेने को कहते हो, तो भला बताइए ऐसे आदमी को बचा रखने का क्या उपाय रह जाएगा। अब तो मेरे हृदय में केवल एक इच्छा है :

एकहि आंक इहइ मन माहीं। प्रातकाल चलिहउं प्रभु पाहीं।

इस प्रकार भरत पुरजनों की सभा को अपना अन्तिम निर्णय बताकर दूसरे दिन प्रातःकाल चित्रकूट के लिए प्रस्थान करने की तैयारी करते हैं। एक तरफ चित्रकूट चलने की तैयारियां हो रही हैं, दूसरी तरफ भरत के मन में भयंकर अन्तर्द्वन्द्व मचा हुआ है। माता की क्षुद्रता के कारण दुनियाँ की निगाहों में इतना गिर जाने के बावजूद भी भरत को एक बात का पूरा भरोसा है और वह है, राम की विशाल हृदयता का। वे कहते हैं :

जद्यपि जनमु कुमातु तें, मैं सठ सदा सदोस।
आपन जानि न त्यागिहहिं, मोहि रघुबीर भरोस।

भरत को लड़कपन की बातें याद आती हैं। साधारण लड़के खेलते समय हार-जीत का प्रश्न लेकर आपस में लड़ जाते हैं। राम और भरत में यह बात न थी। खेल में हार जाने पर भी राम भरत को जिता देते थे। 'हारेहु खेल जितावहु मोहीं' मन में इस प्रकार के अनेक विकल्प करते हुए भरत चित्रकूट को चले जा रहे हैं। साथ में माताएं, गुरुजन तथा अन्य पुरवासी भी हैं। भरद्वाज आश्रम में पहुंचने पर बड़े संकोच के बाद भरत ने मुनि का आतिथ्य स्वीकार किया। मुनिवर भरद्वाज ने अपनी सिद्धियों के बल पर भरत के साथ आए हुए एक-एक व्यक्ति के लिए प्रत्येक की आवश्यकता के अनुसार राजसी प्रबन्ध किया, परन्तु स्वयं भरत को इन सबसे क्या काम? उनके लिए तो वहां का सारा वैभव वैसा ही था जैसे :

संपति चकई भरतु चक, मुनि आयसु खेलवार।
तेहि निसि आश्रम पींजरां राखे भा भिनुसार॥

इस प्रकार जब अन्त में राम और भरत का चित्रकूट में साक्षात्कार होता है तो दोनों भाइयों का मिलना देखकर सब लोग अपने को भूल जाते हैं :

बरबस लिए उठाइ उर, लाए कृपानिधान।
भरत राम की मिलनि लखि, बिसरे सबहिं अपान॥

आगे क्या हुआ और किस प्रकार भरत को अकेले अयोध्या लौटना पड़ा, वह सब आप जानते हैं। उल्लेखनीय बात यह है कि अयोध्या लौट कर भरत अतुल राज-वैभव के बीच रहकर भी किस निर्लिप्तता से राज-काज-संचालन करते हैं। गोस्वामीजी ने भरत की इस परिस्थिति का जैसा सुन्दर चित्रण किया है, शायद ही अन्यत्र आपको उसकी तुलना मिले। वे कहते हैं :

तेहिं पुर बसत भरत बिनु रागा। चंचरीक जिमि चंपक बागा।

अर्थात अयोध्या में भरतजी उसी प्रकार राग-रहित होकर रहते हैं, जैसे चम्पक के बाग में भौंरा। कहा जाता है कि भौंरा बाग में रहते हुए भी इस फूल पर कभी नहीं बैठता। राग के बीच में रहकर भी उससे सर्वथा परे रहकर विरागी का जीवन व्यतीत करने की इतनी सुन्दर उपमा आपको अन्यत्र किसी काव्य में नहीं मिलेगी।

वन-गमन के समय अब रामचन्द्रजी, सीता और लक्ष्मण के साथ वाल्मीकि के पवित्र आश्रम में पधारते हैं, तो साधारण शिष्टाचार और कुशल-मंगल के पश्चात रामचन्द्रजी वाल्मीकि से कोई ऐसा स्थान बतलाने को कहते हैं, जहां वे पर्णकुटी बनाकर निवास कर सकें तथा जहां उनकी उपस्थिति से किसी

अन्य को कोई असुविधा या कष्ट न हो और सर्वव्यापी-सर्वज्ञ भगवान को लोक-लीला हेतु इस प्रकार का सरल और सहज प्रश्न करते सुन वाल्मीकि गद्गद् हो जाते हैं और भगवान से स्वयं पूछ बैठते हैं :

पूछेहु मोहिं कि रहौं कहँ, मैं पूंछत सकुचाउं ।।
जहँ न होहु तहँ देहु कहि, तुम्हहिं देखावौं ठाउं ।।

आदि कवि वाल्मीकि के 'प्रेम रस साने' वचनों को सुनकर भगवान मुस्करा पड़े लेकिन चूंकि राम ने प्रश्न कर दिया था, वाल्मीकि को उत्तर भी देना था। इस अवसर पर तुलसीदास ने वाल्मीकि के मुंह से जो वर्णन कराया है, उसे एक प्रकार से आदर्श जीवन और पवित्र आचरण की परिभाषा कहा जा सकता है :

काम कोह मद मान न मोहा। लोभ न छोभ न राग न द्रोहा ।।
जिन्ह के कपट दंभ नहिं माया। तिन्ह के हृदय बसहु रघुराया ।।
सबके प्रिय सबके हितकारी। दुख सुख सरिस प्रसंसा गारी ।।
कहहिं सत्य प्रिय बचन बिचारी। जागत सोवत सरन तुम्हारी ।।
तुम्हहिं छांड़ि गति दूसरि नाहीं। राम बसहु तिन्ह के मन माहीं ।।

एक और अवसर पर तुलसीदासजी ने स्वयं राम के मुंह से धर्म की व्याख्या कराई है। यह प्रसंग लंकापुरी में राम और लक्ष्मण के साथ रावण के उस युद्ध के समय का है, जिसमें पराजित होकर रावण यज्ञ करता है। दोनों तरफ की सेनाएं आमने सामने खड़ी हैं। एक तरफ नाना प्रकार के वाहनों और अस्त्र शस्त्रों से सुसज्जित रावण की विशाल सेना है, और दूसरी तरफ राम की वानर-भालुओं की पैदल सेना। दोनों पक्षों की इस प्रत्यक्ष असमानता को देखकर राम के अनन्य मित्र विभीषण के मन में कुछ सन्देह उत्पन्न हुआ :

रावनु रथी बिरथ रघुबीरा। देखि बिभीषन भयउ अधीरा ।।
अधिक प्रीति मन भा संदेहा। बंदि चरन कह सहित सनेहा ।।

बड़े स्नेह के साथ भगवान के चरणों की वन्दना कर विभीषण ने कहा :

नाथ न रथ नहिं तन पदत्राना। केहि बिधि जितब बीर बलवाना ।

विभीषण के इस सन्देह का भगवान जिन शब्दों में समाधान करते हैं, नैतिक-बल के स्वरूप और महत्व की उससे सुन्दर व्याख्या शायद ही अन्यत्र मिले। भगवान कहते हैं कि हे मित्र, अपने पास रावण जैसा रथ न होने की कोई चिन्ता

न करनी चाहिए । जिस रथ से सच्ची विजय प्राप्त होती है, वह रथ तो और ही होता है :

सौरज धीरज तेहि रथ चाका । सत्य सील दृढ़ ध्वजा पताका ।।
बल बिबेक दम परहित घोरे । क्षमा दया समता रजु जोरे ।।
ईस भजनु सारथी सुजाना । बिरति चर्म सन्तोष कृपाना ।।
दान परस बुधि सक्ति प्रचंडा । बर बिग्यान कठिन कोदंडा ।।
अमल अचल मन त्रोन समाना । सम जम नियम सिलीमुख नाना ।।
कवच अभेद विप्र गुरु पूजा । एहि सम बिजय उपाय न दूजा ।।
सखा, धर्ममय अस रथ जाकें । जीतन कहँ न कतहुँ रिपु ताकें ।।

अर्थात जिस रथ में शूरता और धैर्य के पहिए लगे हों, जिस पर सत्य और शील की ध्वजा फहराती हो, जिसमें बल, ज्ञान, दम और परहित के घोड़े क्षमा और दया की रस्सी से जुते हुए हों, जिस पर ईश भजन रूपी चतुर सारथी विद्यमान हो तथा जो वैराग्य की ढाल, संतोष की तलवार, दान के कुठार, बुद्धि की शक्ति श्रेष्ठ विज्ञान के धनुष, संयम और नियम के बाण, निर्मल स्थिर मन के तरकस और गुरुजन पूजा रूपी अभेद्य कवच के नाना अस्त्र शस्त्र से सुसज्जित हो, ऐसे रथ के अतिरिक्त सच्ची विजय का दूसरा कोई साधन नहीं है । हे मित्र श्रेष्ठ ! जिसके पास धर्म का बना हुआ ऐसा अजेय रथ हो, उसे जीतने वाला शत्रु इस दुनिया में कहीं नहीं है ।

इसके पश्चात् मैं आपको तुलसीदास की अनूठी वर्णन शैली का थोड़ा दिग्दर्शन कराना चाहता हूं । प्रत्येक नई परिस्थिति का वर्णन उन्होंने एक नए ढंग से किया है । कबीरदास के शब्दों में **लीक-लीक गाड़ी चले, लीकै चले सपूत । लींक छांडि तीनों चलैं, सायर सिंह कपूत ।।** तुलसीदास एक मौलिक सूझ और शैली के कलाकार थे । जहां कहीं उन्होंने किसी घटना का वर्णन किया है, उनकी अद्भुत निरीक्षण शक्ति और शब्द—चित्रकारिता ने एक जीता जागता स्वरूप खड़ा कर दिया है । पार्वती विवाह के प्रसंग में तुलसीदास ने दूल्हा वेशधारी शिव और उनकी बारात का जो वर्णन किया है, वह अपने ढंग का निराला है :

सिवहिं संभुगन करहिं सिंगारा । जटा मुकुट अहिमौरु संवारा ।।
कुंडल कंकन पहिरे ब्याला । तन बिभूति पट केहरि छाला ।।
ससि ललाट सुन्दर सिर गंगा । नयन तीनि उपबीत भुजंगा ।।
गरल कंठ उर नरसिर माला । असिव बेष सिवधाम कृपाला ।।
कर त्रिसूल अरु डमरु बिराजा । चलें बसह चढ़ि बाजहिं बाजा ।।

शिव जी के इस अद्भुत रूप पर देव पत्नियों का व्यंग सुनने लायक है :

देखि सिवहिं सुरत्रिय मुसकाहीं । बर लायक दुलहिनि जग नाहीं ।।

अब रही बारात की बात, सो वह भी :

जस दूलह तसि बनी बराता । कौतुक बिबिध होंहि मग जाता ।।
नाना बाहन नाना बेखा । बिहंसे सिव समाज निज देखा ।।
कोउ मुखहीन बिपुल मुख काहू । बिनु पद कर कोउ बहु पद बाहू ।।
बिपुल नयन कोउ नयन बिहीना । रिष्ट पुष्ट कोउ अति तनु खीना ।।

इसके विपरीत, अब तुलसीदास जनकपुर को देखने के लिए निकली हुई राम और लक्ष्मण की मनोहर जोड़ी का वर्णन करते हैं, तो उनकी कोमल कान्त पदावली की छटा देखते ही बनती है :

पीत बसन परिकर कटि माथा । चारु चाप सर सोहत हाथा ।।
तन अनुहरत सुचंदन खोरी । स्यामल गौर मनोहर जोरी ।।
काननि्ह कनकफूल छवि देहीं । चितवन चितहिं चोर जनु लेहीं ।।
चितवनि चारु भृकुटि बर बांकी । तिलक रेख सोभा जनु चाकी ।।

और यहीं वह मनोहारिणी शोभा थी, जिसे देखकर जानकीजी के दल से बिछड़ी हुई सखी पुलकायमान होकर कह पड़ी थी :

देखन बाग कुंवर दोउ आए । बय किसोर सब भांति सुहाए ।।
स्याम गौर किमि कहौं बखानी । गिरा अनयन नयन बिनु बानी ।।

वैसे तो तुलसीदास की रामायण अनेक मनोहर वर्णनात्मक स्थलों से भरी हुई है पर उनका प्रकृति-वर्णन स्वाभाविकता और सरसता में अपनी तुलना नहीं रखता । किष्किन्धा काण्ड में जहां पर गोस्वामीजी ने राम के मुंह से वर्षा और शरद का वर्णन कराया है, वहां प्रकृति के सजीव शब्दचित्रों के साथ-साथ जीवन के अनेक चिर अनुभूत सत्यों का बड़ा ही मार्मिक संयोग देखने को मिलता है ।

बरखा काल मेघ नभ छाए । गरजत लागत परम सुहाए ।।
दामिनि दमकि रहन घन माहीं ; खल कै प्रीति जथा थिर नाहीं ।।
बरषहिं जलद भूमि निअराए । जथा नवहिं बुध बिद्या पाए ।।
बुंद अघात सहहिं गिरि कैसे । खल के बचन संत सह जैसे ।।
छुद्र नदी भरि चलीं तोराई । जस थोरेहु धन खल इतराई ।।
सिमिटि सिमिटि जल भरै तलावा । जिमि सद्गुन सज्जन पहिं आवा ।।

गोस्वामीजी को मानव स्वभाव का जितना सूक्ष्म अध्ययन था, सामाजिक तत्वों के भी वे उतने ही पहुँचे हुए पारखी थे :

अर्क जवास पात बिनु भयऊ । जस सुराज खल उद्यम गयऊ ।।
बिबिध जंतु संकुल महि भ्राजा । प्रजा बाढ़ जिमि पाइ सुराजा ।।
मसकदंस बीते हिम त्रासा । जिमि द्विज द्रोह किए कुल नासा ।।

इन सबसे बढ़ कर प्रकृति वर्णन के साथ-साथ गोस्वामीजी का आध्यात्म वर्णन देखने लायक है :

भूमि परत भा ढाबर पानी । जनु जीवहिं माया लपटानी ।।
नव पल्लव भए बिटप अनेका । साधक मन जस मिलें बिबेका ।।
ऊसर बरषइ तृण नहिं जामा । जिमि हरिजन हिय उपज न कामा ।
रस-रस सूख सरित सर पानी । ममता त्याग करहिं जिमि ग्यानी ।।
फूले कमल सोह सर कैसा । निर्गुण ब्रह्म सगुन भए जैसा ।।

तुलसीदास की वर्णन-शैली में संवादों का एक विशेष स्थान है । लक्ष्मण और परशुराम, कैकैयी और मंथरा, रावण और जानकी, अंगद और रावण, हनुमान और जानकी तथा राम के साथ निषाद, वाल्मीकि, सूर्पणखा और बालि के संवाद तुलसीदासजी द्वारा वर्णित राम कथा के प्राण हैं । इन संवादों द्वारा गोस्वामीजी ने हास्य, प्रेम, शोक, भक्ति, क्रोध, क्षोभ आदि विषम भावों की ऐसी प्रभावशाली सृष्टि की है कि इन्हें पढ़ते समय पाठक सब कुछ भूल कर इन भावों की ही धारा में बह जाता है ।

इनमें से प्रत्येक का उदाहरण देना तो यहां सम्भव न होगा, फिर भी दो एक नमूने देखिए । लक्ष्मण और परशुराम का संवाद व्यंग्यात्मक वाक्-पटुता में अपनी तुलना नहीं रखता । शिवजी के धनुष को टूटा हुआ देख कर परशुरामजी का पारा सातवें आसमान को पहुंच चुका है :

सुनहु राम जेहि सिव धनु तोरा । सहसबाहु सम सो रिपु मोरा ।।
सो बिलगाउ बिहाइ समाजा । न त मारे जइहैं सब राजा ।।

रामचन्द्रजी उत्तर देने ही को हैं कि लक्ष्मणजी मुस्कराकर बोल पड़े :

बहु धनुहीं तोरी लरिकाईं । कबहुँ न अस रिस कीन्हि गुसाईं ।।
एहि धनु पर ममता केहि हेतू । सुनि रिसाइ कह भृगुकुलकेतू ।।

परशुरामजी के 'रे नृप बालक काल बस, बोलत तोहि न संभार' को जैसे लक्ष्मणजीने सुना ही नहीं :

लखन कहा हंसि हमरे जाना । सुनहु देव सब धनुष समाना ।।
का छति लाभु जून धनु तोरें । देखा राम नयन के भोरें ।।
छुवत टूट रघुपतिहि न दोसू । मुनि बिनु काज करिय कत रोसू ।।

लक्ष्मण की इस ढिठाई पर परशुराम के शरीर में और भी आग लग गई। उन्होंने लक्ष्मण को बहुत कुछ बुरा भला कहा लेकिन बार-बार कुठार उठाकर धमकाने लगे, तो लक्ष्मण से न रहा गया--

पुनि-पुनि मोहि देखाव कुठारू । चहत उड़ावन फूंकि पहारू ।।
इहां कुम्हड़ बतिया कोउ नाहीं । जे तरजनी देखि मरि जाहीं ।।

इसे आखिरी मौका देते हुए परशुरामजी ने विश्वामित्र से बीच-बचाव करने के लिए कहा :

कौशिक सुनहु मंद यह बालकु । कुटिल काल बस निजकुल घालकु ।।
काल कवलु होइहि छन माहीं । कहौं पुकारि खोरि मोहि नाहीं ।।
तुम्ह हटकहु जौं चहहु उबारा । कहि प्रताप बलु रोषु हमारा ।।

परशुरामजी के अंतिम शब्दों की प्रगल्भता को लक्ष्य करके लक्ष्मणजी ने तीखे व्यंग कसे । उन्हें सुनकर तो वे अवश्य तिलमिला उठे होंगे :

लखन कहेउ मुनि सुजस तुम्हारा । तुम्हहि अछत को बरनै पारा ।।
अपने मुख तुम आपनि करनी । बार अनेक भांति बहु बरनी ।।
नहिं संतोषु त पुनि कछु कहहू । जनि रिस रोकि दुसह दुख सहहू ।।
बीर व्रती तुम्ह धीर अछोभा । गारी देत न पावहु सोभा ।।

राम और निषाद का संवाद भी सुनने लायक है । भगवान रामचन्द्र ने बड़ी मुश्किल से समझा बुझा कर सुमंत को अयोध्या लौटाया तथा थोड़ा आगे बढ़ कर गंगाजी के तट पर आए । केवट से नाव लाकर पार उतारने को कहा, लेकिन वह तो केवल सौदेबाज़ी पर तुला हुआ था :

मांगी नाव न केवटु आना । कहइ तुम्हार मरमु मैं जाना ।।
चरन कमल रज कहुं सबु कहई । मानुष करनि मूरि कछु अहई ।।
छुअत सिला भइ नारि सुहाई । पाहन तें न काठ कठिनाई ।।
तरनिउ मुनि घरिनी होइ जाई । बाट परइ मोरि नाव उड़ाई ।।

बेचारा गरीब केवट जो नाव चलाने के अलावा और कोई धन्धा जानता ही नहीं, इतना बड़ा जोखिम कैसे उठा सकता था ? लेकिन चूंकि राम को पार जाना ही था, अधिक बहानेबाज़ी न कर उसने उनके सामने यह विकल्प रखा :

एहि घाट ते थोरिक दूरि अहै कटि लौं जल थाह देखाइहों जू ।
परसे पगधूरि तरै तरनी, घरनी घर क्यों समुझाइहों जू ?
तुलसी अवलंब न और कछू लरिका केहि भांति जिआइहों जू ?
बरु मारिये मोहिं बिना पग धोए हों नाथ न नाव चढ़ाइहों जू ।

केवट के प्रेम लपेटे अटपटे वचन सुन भगवान विहंस पड़ते हैं :

कृपा सिंधु बोले मुसुकाई। सोइ करु जेंहि तव नाव न जाई।।
बेगि आनु जल पाय पखारू। होत बिलंब उतारहि पारू।।

केवट को मुंहमांगी उतराई मिली और भगवान राम गंगा पार उतरे। हार्दिक स्नेह, भक्ति और विजय के साथ मधुर विनोद का ऐसा अपूर्व संयोग अन्यत्र मिलना दुर्लभ है। राजा को जिस बात को जिस ढंग से कहना चाहिए, उसके लिए वैसी ही शब्दावली का प्रयोग कर देना उनके बाएं हाथ का खेल था। विनय पत्रिका में बार-बार वन्दना और दरख्वास्त करते जब काफी समय हो गया और राम दरबार में काम बनता न दीखा तो तुलसीदास ने, जो अपनी आखिरी अर्ज़ी लिखी, उसकी नज़ीरें, दलीलें और चुटकियां देखने लायक हैं :

मैं हरि पतित पावन सुने।
मैं पतित, तुम पतितपावन, दोउक बानक बने।।
व्याध गनिका गज अजामिल साखि निगमनि भने।।
और अधम अनेक तारे जात का पै गने।।
जानि नाम अजानि लीन्हें नरक जमपुर मने।।
दास तुलसी सरन आयो, राखिये आपने।।

'**जानि नाम अजानि लीन्हें, नरक जमपुर मने**' में कितना व्यंगपूर्ण उलाहना है। जिन महापापियों के मुंह से जाने या अनजाने एक बार भी तुम्हारा नाम निकल गया उनका तो तुमने नरक और यमपुर जाना रोक दिया मगर यहां सारी ज़िन्दगी राम-राम रटते जीभ घिस गई, सो उसका कोई लेखा ही नहीं? इतनी ज़ोरदार अर्ज़ी को नामंजूर करना राम के लिए भी असम्भव बन गया होगा।

एक और उदाहरण आपको दूंगा। तुलसीदास ने एक ही कविता में प्रेम, प्रशंसा, विनय और व्यंग्य का अद्भुत सम्मिश्रण कर दिया है। कहते हैं एक बार ब्रह्मा घूमते-घूमते पार्वती के पास पहुंच गए। शिवजी भी पास ही बैठे हुए थे। शिवजी के कारनामों से ब्रह्मा तंग आ गए थे। उन्होंने शिवजी को सुनाते हुए पार्वती से कहना आरम्भ किया :

बावरो रावरो नाह भवानी।
दानि बड़ो दिन देत दये बिनु, बेद बड़ाई मानी।

हे भवानी, तुम्हारे पति का तो दिमाग खराब हो गया है। जिन्होंने कभी अपने जीवन में दान दे कर दान पाने का अधिकार नहीं पाया उनको भी हाथ

खोलकर देता रहता है। और वह भी एक बार, दो बार नहीं, बल्कि रोज का ही ही उसका यह धन्धा बन गया है।

निज घर की बरबात बिलोकहु, हौ तुम परम सयानी।
सिव की दई संपदा देखत, श्री सारदा सिहानी।

तुम तो बड़ी सयानी हो। ज़रा, अपने घर की बर्बादी तो देखो। दुनिया भर के अपात्रों को देकर तुम्हारा घर खाली किए दे रहा है। जिन दरिद्रों को तुम्हारी यह सम्पत्ति लुटाई गई है, उनका वैभव देखकर तो लक्ष्मी और सरस्वती भी सहम गई हैं :

जिनके भाल लिखी लिपि मेरी, सुख की नहीं निसानी।
तिन रंकन कौ नाक संवारत, हौं आयो नकबानी।

जिनके भाग्य में मैंने सुख लिखा ही नहीं था, कंगाल बना दिया था, उनको भी यह स्वर्ग का सुख प्रदान कर देता है। इन दरिद्रों का भाग्य बदलते-बदलते मेरी तो नाक में दम हो गया। बताओ, मैं क्या करूं?

दुख दीनता दुखी इनके दुख, जाचकता अकुलानी।
यह अधिकार सौंपिए औरहिं भीख भली मैं जानी।।

तुम्हारे पति ने दुख और दीनता को भी दुखी बना दिया है, बेचारों को कहीं स्थान ही नहीं मिलता। याचकता भी परेशान है। ऐसी हालत में हे पार्वती! इस ब्रह्मा-पद से तो मेरा इस्तीफा ले लो। किसी और को यह अधिकार सौंप दो। मैं भीख मांग कर गुजर कर लूंगा लेकिन यह रोज़-रोज़ का झंझट मेरे वश का नहीं है। तुलसीदासजी कहते हैं :

प्रेम, प्रसंसा, बिनय ब्यंगजुत, सुनि बिधि की बरबानी।
तुलसी मुदित महेस मनहिं मन, जगत मातु मुसुकानी।।

तुलसी का श्रृंगार

यों तो हिन्दी साहित्य में श्रृंगार की कविता लिखने वाले सूर, देव, बिहारी, मतिराम तथा केशव आदि अनेक उच्च कोटि के कवि हुए हैं, परन्तु मेरी समझ में तुलसी ने जो श्रृंगार वर्णन किया है, उसकी अपनी अलग श्रेणी और अलग परम्परा है। तुलसी के नायक उनके परम आराध्य स्वयं भगवान राम और नायिका श्रृंगार वर्णन करने जैसे दुरूह कार्य के लिए जिस प्रतिभा, सूझ और मर्यादापूर्ण दृष्टिकोण की अपेक्षा होती है, वह तुलसी के अलावा अन्यत्र नहीं मिल सकती थी।

विस्तार में जाने का समय तो यहां नहीं है, फिर भी मैं आपको मानस के उन कुछ स्थलों का दिग्दर्शन कराना चाहता हूं जो एक साधारण पाठक की हैसियत से मुझे अच्छे लगे हैं।

जनकपुर में स्वयंवर-सभा बैठी हुई है। रावण, बाणासुर आदि महाबलवान राजा शिवजी के धनुष को हिला तक नहीं सके। राजा जनक के मुंह से "अब जनि कोउ माखै भटमानी। बीर बिहीन मही मैं जानी। सुनकर लक्ष्मण जी "माखे लषन कुटिल भइ भौंहें। रदपुट फरकत नैन रिसौंहें" का वीरोचित दृश्य उपस्थित कर चुके हैं। गुरुवर की आज्ञा पाकर रामचन्द्रजी खड़े होते हैं :

सुनि गुरुबचन चरन सिरु नावा। हरषु बिषादु न कछु उर आवा॥
ठाढ़ भये उठि सहज सुभाएं। ठवनि जुवा मृगराजु लजाएं॥

सुकुमारता और सुन्दरता के साक्षात स्वरूप राम को शिवजी के कठोर धनुष को तोड़ने के लिए तैयार होते देख सभा में उपस्थित राजाओं तथा जनकपुर के नर-नारियों के हृदय में तरह-तरह के विचार उठते हैं। उस अवसर पर सीताजी की क्या अवस्था है, इसका बड़ा ही मार्मिक वर्णन तुलसीदासजी ने किया है :

देखि देखि रघुवीर तन, सुर मनाव धरि धीर।
भरे बिलोचन प्रेम जल, पुलकावली शरीर।

रामचन्द्रजी के शरीर को देखकर तथा पिता के कठोर प्रण को स्मरण कर जानकी के नेत्रों में प्रेमाश्रु उमड़ आए तथा शरीर में पुलकावली छा गई। राम के प्रेम में अधीर सीता कुछ कहने का प्रयत्न करती हैं परन्तु :

गिरा अलिनि मुख पंकज रोकी। प्रगट न लाज निसा अवलोकी।
लोचन जलु रह लोचनकोना। जैसे परम कृपन कर सोना॥

वाणी रूपी भौंरी लज्जा रूपी रात्रि को देखकर मुख रूपी कमल में रुक गई। अपने नेत्रों का जल एक कोने में इस प्रकार छिपा लिया, जैसे कोई परम कृपण अपने सोने को छिपाता है। कितनी सुन्दर उपमा है। ज़रा आप गौर कीजिए। बिहारी, देव और मतिराम का शृंगार क्या इसका मुकाबला कर सकता है? आगे भी आप देखिए :

इस पृष्ठभूमि में गोस्वामीजी ने जानकीजी की उस समय की आंखों का जो वर्णन किया है, वह अपने ढंग का अद्वितीय है। बिहारी ने भी भगवान कृष्ण के कुण्डलों की एक ऐसी ही उपमा दी है :

मकराकृत गोपाल के, सोहत कुण्डल कान।
धंस्यो मनो हिय धर समर, ड्योढी लसत निसान ।।

कामदेव की सवारी मछली है तथा नेत्रों की उपमा आकार की सुघड़ता तथा चंचलता की दृष्टि से मछली से दी जाती है। तुलसीदासजी कहते हैं :

प्रभुहि चितहिं पुनि चितव महि, राजत लोचन लोल।
खलत मनसिज मीन जुग, जनु बिधु मंडल डोल ।।

सीताजी स्नेहाभिभूत हो रामचन्द्र जी को देखती हैं। कोई देख न ले, इसलिए दूसरे ही क्षण ज़मीन की तरफ भी देखने लगती हैं। ऐसा करते समय उनके चंचल नेत्र ऐसे शोभायमान लगते हैं मानो कामदेव आंखरूपी दो मछलियों पर जानकी के मुख रूपी चन्द्र मण्डल में हिंडोले झूल रही हैं।

भगवान राम के बन-गमन का दृश्य लीजिए। जिन गांवों और जिन रास्तों से राम, सीता और लक्ष्मण गुजरते हैं, वहां के लोगों की दशा विचित्र है :

सीता लखन सहित रघुराई। गांव निकट जब निकसहिं जाई।
सुनि सब बाल वृद्ध नर नारी। चलहिं तुरत गृहकाजु बिसारी।
बरनि न जाइ दसा तिन्ह केरी। लहि जनु रंकन्ह सुरमनि ढेरी।

राम और लक्ष्मण की मनोहर जोड़ी का तुलसीदास ने कितना हृदयग्राही वर्णन किया है :

मुदित नारि नर देखहिं सोभा। रूप अनूप नैन मनु लोभा।

× × ×

तरुन तमाल बरन तनु सोहा। देखत काम कोटि मन मोहा।
दामिनि बरन लखन सुठि नीके। नख सिख सुभग भावते जीके।

× × ×

बरइन न जाइ मनोहर जोरी। सोभा बहु थोरी मति मोरी।

सबसे विचित्र अवस्था तो गांव के स्त्रियों की है, जहां एक तरफ राम और लक्ष्मण की कोमलता और उसके साथ बन-जीवन की कठोरता को सोच कर उनके मुंह से एकाएक निकल पड़ता है "**ते पितु मातु कहहु सखि कैसे। जिन पठये बन बालक ऐसे।**" वहीं दूसरी ओर स्त्री सुलभ कौतूहल को रोक पाना भी उनके लिए मुश्किल हो जाता है। दो नवयुवकों के बीच एक अत्यन्त सुन्दरी नवयुवती को देख कर उनका परस्पर सम्बन्ध जानने की उत्कण्ठा तीव्र हो उठती है। इन सीधी सादी ग्राम बधुओं और जानकी के बीच हुए सम्भाषण को गोस्वामीजी ने किस सरसता, किन्तु मर्यादा के साथ छंदबद्ध किया है, देखिए :

सीय समीप ग्रामतिय जाहीं। पूंछत अति सनेहं सकुचाहीं।।

× × × ×

राजकुमारि बिनय हम करहीं। तिय सुभायं कछु पूंछत डरहीं।।
स्वामिनि अबिनय छमबि हमारी। बिलगु न मानब जानि गंवारी।।
राजकुंअर दोउ सहज सलोने। इन्हतें लही दुति मरकत सोने।।

× × × ×

कोटि मनोज लजावनि हारे। सुमुखि कहहु को आहिं तुम्हारे।

प्रश्न तो हो गया। अब आगे देखिए, जानकीजी उत्तर किस प्रकार देती हैं :

सुनि सनेहमय मंजुल बानी। सकुचि सीय मन महुं मुसुकानी।।
तिन्हहि बिलोकि बिलोकति धरनी। दुंहुं सकोच सकुचति बर बरनी।।
सकुचि सप्रेम बाल मृगनयनी। बोली मधुर बचन पिकबयनी।।
सहज सुभाय सुभग तनु गोरे। नामु लखनु लघु देवर मोरे।
बहुरि बदनु बिधु अंचल ढांकी। पिय तन चितइ भौंह करि बांकी।
खंजन मंजु तिरीछे नयननि। निज पति कहेउ तिन्हहि सिय सयननि।।

तुलसीदासजी कहते हैं कि सीताजी के मधुर शब्दों और संकेतों के द्वारा राम और लक्ष्मण का परिचय प्राप्त कर ग्राम बधुएं ऐसी प्रसन्न हुई, मानो कंगालों ने रत्नों की ढेरी लूट ली हो :

भई मुदित सब ग्राम बधूटी। रंकन्ह रतन रासि जनु लूटी।

अब जहां तक विप्रलम्भ शृंगार का सम्बन्ध है, चित्रकूट से रावण द्वारा सीता के हरण कर लिए जाने के बाद से लेकर लंका विजय के पश्चात राम-सीता पुनर्मिलन तक रामचरितमानस में रस के कई सुन्दर वर्णन आते हैं। मैं आपके सामने केवल दो उदाहरण रखना चाहता हूं :

सीताजी के हठ से विवश होकर, अपने पीछे आए हुए लक्ष्मण के साथ लौट कर राम ने आश्रम को सूना पाया। चारों तरफ खोज लेने के बाद भी जब सीताजी

कहीं नहीं दिखलाई पड़ीं तो राम की विकलता साधारण मानवों से भी बढ़ गई। तुलसीदासजी कहते हैं :

आश्रम देखि जानकीहीना । भए बिकल जस प्राकृत दीना ।।
पर दुख हरन सोक दुख नाहीं । भा विषाद तिन्हके मन माहीं ।।

लक्ष्मण के साथ आस-पास के बनों और पर्वतों में पशु पक्षियों तथा लता द्रुमों तक से भगवान किस विह्वलता के साथ सीताजी का पता करते हैं, आगे देखिए :

हा गुन खानि जानकी सीता । रूप सील व्रत नेम पुनीता ।।
लछिमन समुझाए बहु भांती । पूछत चले लता तरु पांती ।।
हे खग मृग हे मधुकर श्रैनी । तुम्ह देखी सीता मृगनैनी ।।

शृंगारिक परम्परा के अनुसार शायद यही एक अवसर है, जहां तुलसीदासजी ने नायिका का नखशिख वर्णन किया है, परन्तु सीता--हरण जैसे पवित्र प्रसंग में विरही राम के मुंह से वर्णन करा कर उन्होंने अपनी संयत परम्परा की पूरी तरह रक्षा की है। प्रकृति के वे अनेक उपादान, जिनसे नायिका के विविध अंगों की उपमा दी जाती है, बार-बार राम को सीताजी की याद दिला कर उनकी विरहाग्नि को और भी भड़का देते हैं। मन की अतिशय उद्विग्नता में उन्हें ऐसा लगता है, मानो बुरा दिन देखकर, वे सभी उपादान सीताजी का उपहास कर रहे हैं। विरही राम कहते हैं :

खंजन सुक कपोत मृग मीना । मधुप निकर कोकिला प्रबीना ।।
कुंद कली दाड़िम दामिनी । सरद कमल ससि अहि भामिनी ।।
बरुन पास मनोजधनु हंसा । गज केहरि निज सुनत प्रससा ।।
श्रीफल कनक कदलि हरषाहीं । नेकु न संक सकुच मन माहीं ।।
सुनु जानकी तोहि बिनु आजू । हरषे सकल पाइ जनु राजू ।।
किमि सहि जात अनख तोहि पाहीं । प्रिया बेगि प्रगटसि कस नाहीं ।।

तुलसीदासजी के शब्दों में "**इहि विधि खोजत बिलपत स्वामी । मनहु महा बिरही अति कामी ।** भगवान राम यह आशा करते हैं कि यदि किसी और कारण से नहीं तो कम से कम इन सब इतराने और व्यंग्य करने वाले पदार्थों का मान मर्दन करने के लिए जानकी प्रगट हो जाएंगी।

विप्रलम्भ का दूसरा सुन्दर वर्णन वहां आता है, जब हनुमानजी राम का सन्देश लेकर अशोक वाटिका में जानकी से मिलते हैं। जब सीताजी को विश्वास हो जाता है कि हनुमान भगवान के अनन्य भक्त और सेवक हैं, तो वे कहती हैं :

बूड़त बिरह जलधि हनुमाना । भएहु तात मो कहुं जलजाना ।।
अब कहुं कुसल जाउं बलिहारी । अनुज सहित सुख भवन खरारी ।।

कोमल चित कृपाल रघुराई । कपि केहि हेतु धरी निठुराई ।।
सहज बानि सेवक सुखदायक । कबहुंक सुरति करत रघुनायक ।।
कबहुं नयन मम सीतल ताता । होइहंहि निरखि स्याम मृदु गाता ।।
बचनु न आव नयन भरे बारी । अहह नाथ हौं निपट बिसारी ।।

विरहाकुल सीता के इन करुण बचनों को सुनकर हनुमानजी किन सांत्वना भरे शब्दों में माता जानकी को धीरज बंधाते हैं और कैसे चुने हुए शब्दों में राम का प्रेम-संदेश देते हैं, सुनकर हृदय गद्गद् हो जाता है :

मातु कुसल प्रभु अनुज समेता । तव दुख दुखी सुकृपानिकेता ।।
जननी जनि मानहु जिय ऊना । तुम्ह ते प्रेमु राम कें दूना ।।

हे माता, वैसे तो भगवान लक्ष्मणजी समेत सकुशल हैं । यदि कोई दुख है तो यही कि आप उनके साथ नहीं हैं अतएव आप दुखी न हों, भगवान को आपसे दूना स्नेह है । आगे हनुमानजी राम का सन्देश उन्हीं के शब्दों में देते हैं : :

कहेउ राम बियोग तव सीता । मो कहुं सकल भए विपरीता ।।
नव तरु किसलय मनहुं कृसानू । काल निसा सम निसि ससि भानू ।।
कुबलय बिपिन कुंत बन सरिसा । बारिद तपत तेल जनु बरिसा ।।
जे हित रहे करत तेइ पीरा । उरग स्वास सम त्रिबिध समीरा ।।
कहेहू तें कछु दुख घटि होई । काहि कहौं यह जान न कोई ।।

आसपास की सारी चीजें जो साधारणत: सुख का साधन बनती हैं, मेरे लिए उल्टे दुख का कारण बन गई हैं । मन की व्यथा यदि किसी से कह दी जाए, तो दुख का भार थोड़ा हल्का हो जाता है, लेकिन मैं किससे कहूं ? आगे का सन्देश है :

तत्व प्रेम कर मम अरु तोरा । जानत प्रिया एकु मनु मोरा ।
सो मन रहत सदा तोहि पाहीं । जानु प्रीतिरस एतनेहि माहीं ।

लंका से वापस होने पर ज़रा हनुमानजी के मुंह से जानकी की हालत सुनिए जो वह राम से कह रहें हैं, विप्रलंभ शृंगार का ऐसा उदाहरण शायद ही कहीं खोजने से भी मिले :

नाम पाहरू दिवस निसि, ध्यान तुम्हार कपाट ।।
लोचन निज पद जंत्रित, जाहिं प्रान केहिं बाट ।।

इन्हीं कारणों से आज तक जानकी जीवित हैं । नहीं तो आपके वियोग में कभी की मर गई होतीं ।

तुलसीदासजी कहते हैं कि राम का यह अनुपम सन्देश सुनकर माता जानकी स्नेहातिरेक से बेसुध हो गईं :

प्रभु संदेसु सुनत बैदेही । मगन प्रेम तन सुधि नहिं तेही ।।

अन्त में, मैं आपके सामने तुलसी के संयोग शृंगार पर दो शब्द कहना चाहता हूं । आपको याद होगा कि रामचरितमानस की भूमिका में जहां गोस्वामीजी ने **नाना पुराण निगमागम संमतं यद् रामायणे निगदितं** कह कर मानस की पूर्ववर्ती रचनाओं के प्रति अपना आभार प्रदर्शित किया है, वहीं **क्वचिदन्यतोऽपि** कह कर इस बात का भी निर्देश किया है कि उनकी रचना मौलिकता से सर्वथा शून्य भी नहीं है । बालकाण्ड में वर्णित फुलवारी वर्णन को मैं इस प्रकार के ही मौलिक स्थलों में गिनता हूं । यह प्रसंग न केवल तुलसीदास की अभिनव सूझ है, वरन् शृंगार वर्णन की दृष्टि से उनकी काव्य---प्रतिभा का चरमोत्कर्ष भी है ।

राम और लक्ष्मण दिन में जनकपुर और वहां की मनोहर वाटिका देखकर लौट आए हैं । शाम हो गई है, दोनों भाई गुरु की आज्ञा से संध्या करने चले हैं, लेकिन वाटिका में सीता के साक्षात्कार होने के पश्चात् राम के लिए किसी दूसरे विषय पर सोचना असम्भव सा हो रहा है । पूर्व दिशा में उदित चन्द्रमा को देखकर राम को सीता के मुख की याद आ गई, लेकिन फिर दूसरे ही क्षण ध्यान आया कि सीताजी के मुख की उपमा चन्द्रमा से देना ठीक नहीं प्रतीत होता क्यों?

जनमु सिन्धु पुनि बन्धु विषु, दिन मलीन सकलंक ।।
सिय मुख समता पाव किमि, चन्दु बापुरो रंक ।।
घटइ बढ़इ बिरहिनि दुखदायी । ग्रसइ राहु निज संधिहिं पाई ।।
कोक सोकप्रद पंकजद्रोही । अवगुन बहुत चन्द्रमा तोही ।।
बैदेही मुख पटतर दीन्हे । होइ दोषु बड़ अनुचित कीन्हे ।।

चन्द्रमा में एक नहीं, इतने सारे अवगुण भरे हुए हैं । ऐसी अवस्था में चन्द्रमा से वैदेही के मुख की उपमा देना बहुत अनुचित होगा ।

किसी नायिका के मुख की उपमा चन्द्रमा से दे कर कवि अपने को धन्य मानता है । यह देखिए तुलसीदासजी ने चन्द्रमा को कितना नीचा दिखाया है राम के मुंह से ।

इसके पहले सुबह वाटिका में साक्षात्कार के समय तुलसीदास ने राम और जानकी का किन शब्दों और उपमाओं द्वारा वर्णन किया है, उसकी मनोहर झांकी दिखाने के लिए, मैं आपको थोड़ी देर के लिए उधर ही ले चलता हूं ।

जनकपुर की रुचिर वाटिका में आए दोनों भाइयों को थोड़ी ही देर हुई है। वसन्त ऋतु में शोभा और मनमोहकता की चरम सीमा पर पहुंचे हुए बाग का दृश्य देखकर दोनों भाई आनन्दित हो रहे हैं :

लागे बिटप मनोहर नाना । बरन बरन बर बेलि बिताना ।।
नव पल्लव फल सुमन सुहाए । निज संपति सुर-रूख लजाए ।।
चातक कोकिल कीर चकोरा । कूजत बिहग नटत कल मोरा ।।
मध्य बाग सरु सोह सुहावा । मनि सोपान बिचित्र बनावा ।।
बिमल सलिलु सरसिज बहुरंगा । जल खग कूजत गुंजत भृंगा ।।

जिस समय दोनों भाई वाटिका की इस सुन्दरता का आनन्द ले रहे थे, एकाएक राम के कानों में कोई मधुर ध्वनि पड़ती है। उनका ध्यान तुरन्त उस ओर आकर्षित हो जाता है :

कंकन किंकिनि नूपुर धुनि सुनि । कहत लखन सन रामु हृदयं गुनि ।
मानहुं मदन दुंदुभी दीन्ही । मनसा बिस्व बिजय कहं कीन्हीं ।।
अस कहि फिरि चितए तेहि ओरा । सिय मुख ससि भए नयन चकोरा ।
भए बिलोचन चारु अचंचल । मनहुं सकुचि निमि तजे दिगंचल ।।

तुलसीदास की मर्यादा रक्षा यहां पर दर्शनीय है। कहते हैं कि जिस वक्त राम और जानकी की आंखें मिलीं, वे इस प्रकार इकटक हो एक दूसरे को देखने लगे मानो पलकों पर निवास करने और उनका संचालन करने वाले निमि ऋषि, जो राजा जनक के पुरखा थे, अपने ही कुल की कन्या को राम के साथ प्रीति करते देख सकुचा कर वहां से हट गए। इसलिए पलक नहीं गिरते। कैसी अनुपम उक्ति है।

और उधर राम '**देखि सीय सोभा सुख पावा । हृदय सराहत बचन न आवा**' की मुग्धावस्था में पड़कर सीताजी की उपमा ढूंढ़ने लगे। बहुत विचार के बाद उन्हें लगा कि :

जनु बिरंचि सब निज निपुनाई । बिरचि बिस्व कहं प्रगटि देखाई ।
सब उपमा कबि रहे जुठारी । केहिं पटतरौं बिदेहकुमारी ।
सुन्दरता कहं सुन्दर करई । छबि गृहं दीप सिखा जनु बरई ।।

शेक्सपियर की "फ्रेल्टी दाई नेम इज़ वमन" अर्थात् दुर्बलता, तेरा ही नाम स्त्री है, तुलसीदास की "सुन्दरता कहं सुन्दर करई। छविगृह दीप सिखा जनु बरई।" के मुकाबले में कुछ नहीं है और यदि शेक्सपियर के आलोचक इस एक पंक्ति पर ही उसे अंग्रेजी साहित्य में अमरत्व का अधिकारी समझते

हैं, तो आप समझ लीजिए कि तुलसीदास को विश्व—साहित्य में क्या स्थान मिलना चाहिए ।

आगे गोस्वामीजी राम की सहज सरलता और उनके हृदय की पवित्रता का जो वर्णन करते हैं, वह श्रृंगारिक वर्णनों के लिए एक दुर्लभ वस्तु है । एक नई जगह में एक अपरिचित रमणी के प्रति कामुक आकर्षण जैसे संकोचपूर्ण विषय पर भी राम छोटे भाई लक्ष्मण से उसी निस्संकोच भाव से बात करते हैं, जैसे अन्य किसी घरेलू विषय पर । "मानहु मदन दुंदुभी दीन्ही" तो उन्होंने नूपुरों की ध्वनि कान में पड़ते ही लक्ष्मण से कह दिया था । अब सीताजी से भली भांति साक्षात्कार हो जाने के पश्चात जो कुछ कहते हैं, उसे सुनिए :

'तात जनक तनया यह सोई । धनुषजग्य जेहि कारन होई ।।
पूजन गौरि सखीं लै आई । करत प्रकासु फिरइ फुलवाई ।।
जासु बिलोकि अलौकिक सोभा । सहज पुनीत मोर मनु छोभा ।।
रघुबंसिन्ह कर सहज सुभाऊ । मनु कुपंथ पगु धरइ न काऊ ।।
जिन्ह के लहहिं न रिपु रन पीठी । नहिं पावहिं परतिय मनु डीठी ।।

राम इस ऊंची परम्परा वाले रघुवंश में पैदा हुए हैं, तो क्या इतने ही से उनमें ये सब गुण आ गए । वे कहते हैं कि भाई, केवल वंश परम्परा पर ही विश्वास नहीं है, वरन् मैंने अपने हृदय को भी अच्छी तरह टटोल कर देख लिया है :

मोहिं अतिसय प्रतीति जिय केरी । जेहि सपनेहु परनारि न हेरी ।।

लेकिन अगर इन सबके बावजूद भी मेरी यह दशा हुई है तो :

सो सब कारन जान विधाता । फरकहिं सुभग अंग सुनु भ्राता ।।

जिस समय राम लक्ष्मण से ये बातें कर रहे हैं, उस समय भी उनका ध्यान सीताजी पर ही केन्द्रित था :

करत बतकही अनुज सन, मन सिय रूप लुभान ।
मुख सरोज मकरन्द छवि, करत मधुप इक पान ।।

यह तो हुई दशा राम की । अब आइए आपको सीताजी की तरफ भी ले चलें, जहां :

चितवति चकित चहूं दिसि सीता । कहं गए नृप किसोर मनु चीता
जहं विलोक मृगसावक नैनी । जनु तहं वरिस कमल सित श्रैनी ।।
लता ओट तब सखिन लखाए । स्यामल गौर किसोर सुहाए ।।
देखिय रूप लोचन ललचाने । हरषे जनु निज निधि पहिचाने ।

थोड़ी देर के लिए लता-कुंजों की ओट में ओझल होकर दोनों भाई फिर प्रगट होते हैं। उस समय की उनकी शोभा कैसी कमनीय है, तुलसीदास के शब्दों में सुनिए :

सोभा सींवं सुभग दोउ बीरा। नील पीत जलजाभ सरीरा।।
मोर पंख सिर सोहत नीके। गुच्छ बीच बिच कुसुम कली के।।
भाल तिलक श्रम बिन्दु सुहाए। श्रवन सुभग भूषन छवि छाए।।
बिकट भृकुटि कच घूंघरवारे। नव सरोज लोचन रतनारे।।
चारु चिबुक नासिका कपोला। हास बिलास लेत जनु मोला।।
मुख छबि कहि न जाइ मोहि पाहीं। जो बिलोकि बहु काम लजाहीं।।

जिस समय लता-कुंजों के झुरमुट में अलौकिक शोभा के ये पट परिवर्तन हो रहे हैं, स्नेहातिरेक से जानकी के नयन मुंद मुंद जाते थे। एक सयानी सखी सीता की इस अवस्था को लक्ष्य कर कितना मधुर व्यंग्य करती है।

बहुरि गौरि कर ध्यान करेहू। भूप किसोर देखि किन लेहू।।
सकुचि सीय तब नयन उघारे। संमुख दोउ रघुसिंघ निहारे।।
नख सिख देखि राम कै सोभा। सुमिरि पितापनु मनु अति छोभा।।
परबस सखिन्ह लखी जब सीता। भयउ गहरु सब कहहिं सभीता।।
पुनि आउब एहि बिरिआं काली। अस कहि मन बिहसी एक आली।।

सखी की मर्मभरी वाणी सुनकर सीताजी सकुचा गईं और कहने लगीं कि हां, सचमुच बड़ी देर हो गई, माताजी नाराज होती होंगी, अब चलना चाहिए। चलते-चलते भी प्रेम-विभोर जानकी किसी न किसी बहाने उलट कर राम को देख लेती हैं।

देखन मिस मृग बिहग तरु, फिरइ बहोरि बहोरि।।
निरखि-निरखि रघुबीर छबि, बाढ़इ प्रीति न थोरि।।

अन्त में, जब काफी आगे बढ़ जाने पर इसकी भी गुंजाइश न रही तो एक आखिरी निगाह डाल कर :

लोचन मग रामहिं उर आनी। दीन्हें पलक कपाट सयानी।

जानकीजी ने राम की सलोनी मूर्ति को आंखों के मार्ग से हृदय में खींचकर पलकों के किवाड़ वन्द कर लिए। आज का यह अन्तिम प्रवचन भी मैं यहीं बन्द करता हूं।

तुलसी के राम—एक

तुलसी के पहले राम-साहित्य की क्या परम्परा थी तथा राम–कथा के क्या स्वरूप थे–इस विषय के विस्तार में जाना यहां सम्भव नहीं है। फिर भी इधर कुछ दिनों से 'बाल्मीकीय रामायण' तथा 'रामचरित मानस' की वस्तु-विन्यास योजना को लेकर एक प्रकार का साहित्यिक विवाद खड़ा करने की जो प्रवृत्ति चल पड़ी है, उसकी संक्षिप्त चर्चा असंगत न होगी।

तुलसीदास ने मूल राम-कथा के लिए बाल्मीकीय रामायण को अपना प्रमुख आधार बनाने के साथ साथ मानस के इतिवृत्त में अनेक स्थानों पर आवश्यकतानुसार हेर फेर कर दिए हैं। ऐसा करने में जहां उन्होंने 'अध्यात्म रामायण' 'प्रसन्न राघव' 'हनुमन्नाटक', रघुवंश' तथा 'उत्तर रामचरित' जैसी उच्च कोटि की पूर्ववर्त्ती रचनाओं का सहारा लिया है, वहीं अनेक स्थानों पर अपनी अलौकिक काव्य-कल्पना तथा अद्वितीय समन्वय-शक्ति का भी प्रचुर मात्रा में प्रयोग किया है। राम-कथा जैसे प्राचीन और प्रामाणिक विषय को बालमीकि और तुलसी जैसे सिद्ध हस्त कलाकारों ने विभिन्न दृष्टिकोणों से प्रस्तुत किया है–इसका सबसे बड़ा कारण है, दोनों का दो विभिन्न युगों और परिस्थितियों म उत्पन्न होना तथा अपने ग्रन्थों द्वारा अपने युग का पथ-प्रदर्शन करना। आदि कवि बालमीकि जहां आर्य-संस्कृति के एकनिष्ठ वैदिक युग के प्रतिनिधि थे, वहां तुलसीदास का प्रादुर्भाव एक ऐसे युग में हुआ था, जब हिन्दू समाज विभिन्न मत-मतान्तरों और सम्प्रदायों की संकीर्णता में उलझ कर विशृंखल हो रहा था। एक को अपने विकासोन्मुख युग की आवश्यकतानुसार तत्कालीन संस्कृति का उत्कर्ष दिखाना अभीष्ट था, तो दूसरे को एक ऐसे लोक-व्यापार-व्यापी राम की खोज थी, जो मर्यादा पुरुषोत्तम होने के साथ-साथ भक्तों की स्थूल और सूक्ष्म भावनाओं का दिव्यालम्बन भी बन सके।

तुलसी के राम में आदि से अन्त तक 'नरत्व' और 'नारायणत्व' की जो सम्मिलित झांकी प्राप्त होती है— संक्षेप में उसकी यही पृष्ठभूमि है। मानस की संदर्भण कला में काव्य-नायक राम के, इस दुहरे चित्रण से कोई त्रुटि आ गई हो, सो बात नहीं है। बल्कि मेरे विचार से तो मानस की नवीनता इस बात में है कि उसमें महाकाव्योचित उपक्रम के विधान के साथ-साथ भक्ति तत्वों का ऐसा कलात्मक

संगम बन पड़ा है कि काव्य प्रेमी और भक्त दोनों साथ-साथ ही उसमें गोता लगा कर अपना-अपना अभीष्ट प्राप्त कर सकते हैं। अब आइए आपको राम के इस विशाल चरित्र की कुछ झांकियां दिखाएं।

तुलसीदास को राम के जिस नर और नारायण स्वरूप का चित्रण अभीष्ट था, उसकी झांकी हमें राम-जन्म के प्रसंग से ही प्राप्त होने लगती है। जहां आदि-कवि बाल्मीकि ने राम-जन्म में कोई अलौकिकता नहीं दिखलाई है, वहां तुलसीदास ने जन्म का शुभ मुहूर्त उपस्थित होते ही देवताओं के प्रसन्न होकर पुष्पवर्षा करने तथा दुंदुभी बजाने का दृश्य उपस्थित किया है :

बरसहिं सुमन सुअंजलि साजी। गहगह गगन दुंदुभी बाजी।।
अस्तुति करहिं नाग मुनि देवा। बहु बिधि लावहिं निज निज सेवा।।

तुलसी ने राम का प्रकट होना **भये प्रगट कृपाला दीन दयाला**––की अलौकिक पृष्ठ भूमि में चित्रित किया है। आगे चलकर उन्होंने बालक राम द्वारा माता कौशल्या को अपना विराट रूप दिखाने के प्रसंग को लाकर राम के रूप में स्वयं भगवान के नर लीला-हेतु अवतरण को और भी स्पष्ट कर दिया है :

व्यापक ब्रह्म निरंजन, निर्गुन बिगत बिनोद।।
सो अज भक्ति प्रेमबस कौसल्या की गोद।।

इसके बाद के प्रसंगों में जहां गोस्वामीजी ने राम के मानवीय चरित्रों का वर्णन किया है, यथासम्भव अलौकिकता से दूर रह कर काव्योचित स्वाभाविकता की पूर्ण रक्षा की है। राम का बालरूप कितना आकर्षक और हृदयहारी है तुलसी के ही शब्दों में सुनने लायक है :

काम कोटि छबि स्याम सरीरा। नील कंज बारिद गंभीरा।।
अरुन चरन पंकज नख जोती। कमलदलन्हि बैठे जनु मोती।।
रेख कुलिस ध्वज अंकुस सोहे। नूपुर धुनि सुनि मुनि मन मोहे।।
कटि किंकिनी उदर त्रय रेखा। नाभि गंभीर जान जेहि देखा।।
कंबु कंठ अति चिबुक सुहाई। आनन अमित मदन छबि छाई।।

पिता दशरथ की गोद में पुलक रहे राम की मनोहर छटा पर मुग्ध भक्त तुलसी के उद्गार आज सहस्रों राम-भक्तों की एकमात्र स्पृहा बन चुके हैं। क्या ही मनोमुग्धकारी चित्रण है :

पग नूपुर औ पहुंची कल कंजनि, मंजु बनी मनि माल हिए।।
नवनील कलेवर पीत झगा, झलकें पुलकें नृप गोद लिए।।
अरविन्द सो आनन, रूप मरंद अनन्दित लोचन भृंग पिए।।
मन मो न बस्यो अस बालक जो तुलसी जग में फल कौन जिए।।

तुलसी की रचनाओं में जहां भी कहीं राम की रूप-माधुरी का प्रसंग आया है, वहां उनकी भक्त-सुलभ तन्मयता देखते बनती है। लगता है, जैसे सगुणोपासक तुलसी की अन्तंदृष्टि ने **गिरा अनयन नयन बिनु बानी** की सीमा को पार कर एक अलौकिक वाग् धारा प्राप्त कर ली हो। जनकपुर में राम से साक्षात्कार होते ही सीता की क्या अवस्था होती है, इसे आप सब जानते हैं, लेकिन राम को देख कर वीतराग जनक को जो अनुभव हुआ उसकी चर्चा कर तुलसी ने राम-रूप का कितना उत्कर्ष दिखाया है इसे जनक के शब्दों में सुनिए :

सहज बिराग रूप मन मोरा। थकित होत जिमि चन्द चकोरा।
इनहिं बिलोकत अति अनुरागा। बरबस ब्रह्मसुखहिं मन त्यागा।

जब योगिराज जनक का यह हाल है, तो बालि का क्या कहना ? जिस समय बालि का राम से साक्षात्कार होता है, तो वह उन्हीं के शरों से आहत मृत्यु के अन्तिम क्षण गिन रहा होता है। ऐसे विकट अवसर पर असीम घृणा और रोष के जो तीव्र भाव उसके हृदय को बेध रहे थे, राम को सम्मुख खड़ा देख कर एकाएक प्रीति में बदल जाते हैं। राम-रूप का इससे अधिक प्रभावशाली वर्णन और क्या हो सकता है :

परा बिकल महि सर के लागे। पुनि उठ बैठ देखि प्रभु आगे।
स्याम गात सिर जटा बनाये। अरुन नयन सर चाप चढ़ाये।
पुनि पुनि चितै चरन चित दीन्हा। सफल जन्म माना प्रभु चीन्हा।
हृदय प्रीति मुख बचन कठोरा। बोला चितै राम की ओरा।

अब जहां तक तुलसीदास द्वारा राम के चरित्र-चित्रण का प्रश्न है, प्रधान पात्र होने के कारण जितनी विभिन्न परिस्थितियों में उनको दिखाया गया है, उतना अन्य किसी पात्र को नहीं। उनके जीवन में नाना प्रकार के मनोविकारों को उभारने वाले अवसरों का जाल सा बिछा हुआ है और यही कारण है कि उनका चरित्र सबसे अधिक विशाल और व्यापक बन पड़ा है। महान कर्तव्य-परायणता, हृदय की स्वच्छता और कोमलता, उच्च कोटि की मर्यादा और शील-रक्षा ये ही रामचरित के प्रधान लक्षण हैं तथा इन्हीं में उसका 'रामत्व' निहित है।

राम की कर्तव्य-परायणता की सबसे पहली और बड़ी परीक्षा उस समय हुई, जब राज्याभिषेक जैसे आनन्दमय अवसर की अन्तिम तैयारियों के बीच एकाएक उन्हें चौदह वर्ष बनवास की कठोर आज्ञा मिल गई। कहां राज्य और कहां बनवास! **लिखत सुधाकर लिखिगा राहू**—राम ने इस महा विकट परिस्थिति को जिस धैर्य और सहज भाव से सम्भाला है, उसकी तुलना अन्यन्त्र मिलनी असम्भव

है। बनवास की बात सुनकर राम कैकेयी को कैसे और क्या उत्तर देते हैं, यह गोस्वामीजी के ही शब्दों में सुनने लायक है :

मन मुसकाइ भानुकुल भानू। रामु सहजु आनन्द निधानू ।।
बोले बचन बिगत सब दूषन। मृदु मंजुल जनु बागबिभूषन ।।
सुनु जननी सोइ सुत बड़भागी। जें पितु-मातु बचन अनुरागी ।।
तनय मातु पितु तोषनिहारा। दुर्लभ जननि सकल संसारा ।।

इतना ही नहीं, बन जाने में और भी अनेक लाभ हैं :

मुनि गन मिलनु बिसेषि बन, सबहिं भांति हित मोर ।।
तेहि मंह पितु आयसु बहुरि संमत जननी तोर ।।
भरत प्राण प्रिय पावहिं राजू। बिधि सब बिधि मोहिं सन्मुख आजू ।।
जौं न जाउं बन ऐसेहुं काजा। प्रथम गनिअ मोहिं मूढ़ समाजा ।।

किस निर्लिप्त भाव से तथा हृदय में तनिक भी कटुता या विषाद लाए बिना राम छोटे भाई और पत्नी को साथ ले बन को चल पड़ते हैं, इसका बड़ा ही हृदयग्राही चित्र गोस्वामीजी ने प्रस्तुत किया है :

कीर के कागर ज्यों नृप चीर बिभूषन, उप्पम अंगनि पाई।
औध तजी मग बास के रूख ज्यों पंथ के साथी ज्यों लोग लुगाई।
संग सुबन्धु, पुनीत प्रिया, मनु धर्म क्रिया धरि देह सुहाई।
राजिवलोचन राम चले, तजि बाप को राज बटाउ की नाई।

राम के वियोग में राज परिवार के लोगों की जो दयनीय दशा हो रही है, सो तो है ही, पुरवासियों तथा अयोध्या के पशु-पक्षियों का कितना बुरा हाल है :

चलत रामु लखि अवध अनाथा। बिकल लोग सब लागे साथा।
कृपा सिंधु बहुबिधि समुझावहिं। फिरहिं प्रेमबस पुनि फिरि आवहिं।
लागति अवध भयावनि भारी। मानहुं कालराति अंधियारी।
बागन्ह बिटप बेलि कुम्हिलाहीं। सरित सरोवर देखि न जाहीं।

नगर के पशु-पक्षी :

राम बियोग बिकल सब ठाढ़े। जहं तहं मनहुं चित्र लिखि काढ़े।

और राम को बन पहुंचा कर लौटे हुए उनके प्रिय घोड़ों की दशा कितनी करुणापूर्ण है, माता कौशल्या के शब्दों में सुनिए :

आली हौं इन्हहिं बुझावौं कैसे ?
लेत हिए भरि-भरि पतिको हित, मातुहेतु सुत जैसे।

बार बार हिहिनात हेरि उत, जो बोले कोउ द्वारे ।
अंग लगाइ लिए बारे तें करुनामय सुत प्यारे ।
लोचन सजल, सदा रोवत से, खान पान बिसराये ।
चितवत चौंकि नाम सुनि, सोचत, राम-सुरति उर लाये ।

माता कौशल्या से घोड़ों का दुख देखा नहीं जाता । विलाप की सी बेबसी में कह उठती है :

राघौ ! एक बार फिरि आवौ ।
ए बर बाजि बिलोकि आपने, बहुरौ बनहिं सिधावौ ।
जे पय प्याइ, पोखि कर-पंकज, बार-बार चुचुकारे ।
क्यों जीवहिं, मेरे राम लाड़िले ते अब निपट बिसारे ।

राम की सर्वप्रियता की इतनी उदात्त कल्पना गोस्वामीजी के अतिरिक्त और कौन कर सकता था ?

अब आइए, राम के उदार हृदय की पवित्रता और कोमलता का दिग्दर्शन करें, जिसकी पहली झांकी हमें फुलवारी-प्रसंग में मिलती है । दोनों भाई जनकपुर की रमणीय वाटिका की मनोहरता देखकर प्रसन्न हो रहे हैं कि इतने में किसी के मंजुल नूपुरों की मादक झंकार कान में पड़ते ही राम चौंक पड़ते हैं । जीवन में पहली बार पुनः राम के हृदय में रति-भावना का संचार होता है और वह भी ऐसी नाटकीय अवस्था में अत्यन्त सरल और निःसंकोच भाव से वे लक्ष्मण से कह उठते हैं :

कंकन किंकिनि नूपुर धुनि सुनि । कहत लखन सन राम हृदय गुनि ।
मानहुं मदन दुंदुभी दीन्ही । मनसा बिस्व बिजय कह कीन्हीं ।

इतने में जानकी जी सामने प्रगट हो जाती हैं और राम—

देखि सीय सोभा सुख पावा । हृदय सराहत बचनु न आवा ।
जनु बिरंचि सब निज निपुणाई । बिरचि बिस्व कहं प्रगटि दिखाई ।
सुंदरता कहं सुंदर करई । छबिगृह दीप सिखा जनु बरई ।

मन ही मन जानकी की अलौकिक शोभा पर मुग्ध होकर सरल हृदय राम, लक्ष्मण से फिर कहते हैं :

तात जनक तनया यह सोई । धनुष जग्य जेहि कारन होई ।
जासु बिलोकि अलौकिक सोभा । सहज पुनीत मोर मनु छोभा ।
रघुबंसिन्ह कर सहज सुभाऊ । मनु कुपंथ पगु धरइ न काऊ ।
जिनके लहहिं न रिपु रन पीठी । नहिं पावहिं पर तिय मनु डीठी ।।

केवल वंश-परम्परा का ही नहीं, राम को अपने हृदय की पवित्रता का भी पूर्ण विश्वास है :

मोहि अतिसय प्रतीति मन केरी । जेहि सपनेहु परनारि न हेरी ।

परन्तु यदि इस पर भी उनके हृदय की ऐसी दशा हो गई है तो :

सो सब कारन जान विधाता । फरकहिं सुभद अंग सुनु भ्राता ।

यह है एक नई जगह में एक अपरिचित रमणी के प्रति कामुक आकर्षण : जैसे संकोचपूर्ण विषय पर राम का दृष्टिकोण और वह भी अपने कनिष्ठ सहोदर लक्ष्मण के साथ ।

राम के हृदय की पवित्रता का दूसरा उदाहरण उस स्थल पर मिलता है, जब चित्रकूट में दूर से भरत दल-बल के साथ आते दिखाई देते हैं । निषाद और लक्ष्मण दोनों को भरत के इरादे पर सन्देह हो रहा है । लक्ष्मण आवेश में कह उठते हैं :

जो जिय होति न कपट कुचाली, केहि सोहाति रथ बाजि गजाली ।
भरतहि दोषु देइ को जाएं । जग बौराइ राजपदु पाएं ।

इतना ही नहीं, लक्ष्मण युद्ध के लिए तैयार हो जाते हैं और भरत को खरी खोटी सुनाने लगते हैं । इस पर राम जिन शब्दों में लक्ष्मण को समझाते हैं तथा भरत की प्रशंसा करते हैं, वह राम के अतिरिक्त शायद ही दूसरा कर सकता है । वे कहते हैं :

कही तात तुम्ह नीति सुहाई । सब तें कठिन राजमदु भाई ।
जो अंचवत नृप मातहिं तेई । नाहिन साधु सभा जेहि सेई ।
सुनहु लखन भल भरत सरीसा । बिधि प्रपंच मह सुना न दीसा ।
भरतहि होइ न राजमदु, बिधि हरिहर पद पाइ ।
कबहुं कि कांजी सीकरनि, छीर सिन्धु बिनसाइ ।
तिमिर तरुन तरनिहि मकु गिलई । गगन मगन मकु मेघहिं मिलई ।
गोपद जल बूड़हिं घटजोनी । सहज छमा बरु छाड़ै छोनी ।
मसक फूंक मकु मेरु उड़ाई । होइ न नृप मद भरतहिं भाई ।
लखन तुम्हार सपथ पितु आना । सुचि सुबन्धु नहिं भरत समाना ।

सुशील और पवित्र अन्तःकरण की सबसे बड़ी विशेषता यह होती है कि वह दूसरे में भी बुरे भाव का आरोप जल्दी नहीं कर सकता । राम के मन में भरत के प्रति रंचमात्र भी सन्देह नहीं होता । अपनी पवित्रता के बल पर उन्हें भरत की सुशीलता में पूर्ण विश्वास है । पवित्र होने के साथ-साथ राम का हृदय

कितना उदार और कोमल है, इसके भी अनेक उदाहरण राम के जीवन में मिलते हैं। सीता-हरण के समय राम की मानवोचित विह्वलता अपने ढंग की अनोखी है। तुलसीदासजी कहते हैं:

आश्रम देखि जानकी हीना। भये बिकल जस प्राकृत दीना।
पर दुख हरन सोक दुख नाहीं। भा विषाद तिन्ह के मन माहीं।

लक्ष्मण के साथ वनों और पर्वतों में सीता की खोज करते हुए राम का लता, द्रुमों और पशु पक्षियों से सीता का पता पूछना कितना स्वाभाविक बन पड़ा है:

हा गुन खानि जानकी सीता। रूप सील व्रतनेम पुनीता।
लछिमन समुझाये बहु भांती। पूछत चले लता तरू पांती।
हे खग मृग हे मधुकर श्रेनी। तुम देखी सीता मृगनैनी।

दूसरा स्थल जहां राम के हृदय की कोमलता पराकाष्ठा को पहुंची हुई दृष्टिगोचर होती है, वह है लक्ष्मण को शक्ति लगने पर उनका हृदय विदारक विलाप। आधी रात हो गई, हनुमान अभी तक संजीवनी लेकर नहीं लौटे। राम का धीरज भी छूटने लगा:

अर्ध राति गइ कपि नहिं आयउ। राम उठाइ अनुज उर लायउ।

अनन्य सहोदर लक्ष्मण को मूर्छावस्था में ही हृदय से लगाकर क्या करुणापूर्ण विलाप राम ने किया है:

सकहु न दुखित देखि मोहि काऊ। बंधु सदा तव मृदुल सुभाऊ।
मम हित लागि तजेहु पितु माता। सहेउ बिपिन हिम आतप बाता।
सो अनुराग कहां अब भाई। उठहु न सुनि मम बच बिकलाई।
जौं जनतेउं बन बंधु बिछोहू। पिता बचन मनतेउं नहिं ओहू।

यहां पर 'ओहू' शब्द विशेष ध्यान देने लायक है। राम कहते हैं कि यदि मुझे पता होता कि बन में लक्ष्मण जैसे भाई से विछोह हो जाएगा, तो चौदह वर्ष बनवास की वात तो दूर रही, मैं पिता की वह बात भी न मानता जब उन्होंने समन्त से कहा था, **'रथ चढाइ दिखराइ बन फिरेहु गये दिन चारि'**

आगे का विलाप और भी हृदय विदारक है:

सुत वित नारि भवन परिवारा। होंहि जाहिं जग बारहिं बारा।
अस बिचारि जिय जागहु ताता। मिलइ न जगत सहोदर भ्राता।

कौन सा मुंह लेकर अब मैं अयोध्या लौटूंगा और माता सुमित्रा को जिन्होंने अपने बेटे को मुझे सौंप दिया था, क्या उत्तर दूंगा :

जैहौं अवध कवन मुह लाई। नारि हेतु प्रिय भाइ गंवाई।
निज जननी के एक कुमारा। तात तासु तुम्ह प्रान अधारा।
सौंपेसि मोहिं तुम्हहिं गहि पानी। सब बिधि सुखद परम हित जानी।
उतरु काहि दैहौं तेहि जाई। उठि किन मोहि सिखावहु भाई।

इस दारुण शोक के समय में भी राम को शरणागत विभीषण की चिन्ता सबसे अधिक सता रही है। भाई लक्ष्मण को शक्ति लग गई, तो राम ने भी उनका अनुगमन करने का संकल्प कर लिया है। उनकी सेना के वन्दर भालू फिर से जंगलों को लौट जाएंगे। विभीषण का क्या बनेगा। यह सोच कर राम अत्यन्त व्याकुल हैं :

मेरो सब पुरुसारथ थाको।
बिपति बंटावन बन्धु-बाहु बिनु करौं भरोसो काको।
सुनु सुग्रीव सांचेहु मो पर फेरयों बदन बिधाता।
ऐसे समय समर संकट हौं तज्यौ लषन-सो भ्राता।
गिरि कानन जैहों साखा मृग, हौं पुनि अनुज संघाती।
ह्वै है कहा बिभीषन की गति, रही सोच भरि छाती।

शबरी निषाद और हनुमान जैसे अनन्य भक्तों के प्रति राम का अगाध स्नेह भी उनके हृदय की असीम उदारता का ही परिचायक है। शबरी के बेरों को राम ने कितने चाव से खाया और एक को दूसरे से भी मीठा बतला कर भाई लक्ष्मण को खिलाया। राम-दर्शन की अपनी अन्तिम अभिलाषा को पूर्ण कर शबरी तो परम गति पा गई, परन्तु राम के हृदय में अपने अतुल्य अनुराग की एक अमिट छाप छोड़ गई। जिधर भी राम जाते हैं, शबरी की बड़ाई करते नहीं अघाते :

मिलि मुनि बृन्द फिरत दंडक बन, सो चरचा न चलाई।
बारहिं बार गीध सबरी कहं, बरनत प्रीति अघाई।

और शबरी के बेर? उनकी मधुरता के सामने तो जैसे राम को अच्छे से अच्छा पकवान भी फीका ही लगता है :

घर गुरु गृह प्रिय सदन सासुरे, भइ जब जहं पहुंनाई।
तब तब कहै सबरी के फलन की, रुचि माधुरी न पाई।

इसी प्रकार नीच कुल के कारण निषाद-राज के प्रति भी राम के स्नेह में कोई अन्तर न पड़ा। सच तो यह है कि निषाद को राम के सान्निध्य का जो सौभाग्य प्राप्त था, उसे देख कर देवता भी ईर्ष्या करते थे :

थके देव साधन अनेक करि सपनेहु नहि दए दिखाई।
केवट मीत कहें सुख मानत बानर-बंधु बड़ाई।

राम की विशाल-हृदयता तथा महान उदारता का परिचय उस समय मिलता है, जब विभीषण पहली बार राम से मिलने आता है। सुग्रीव, जाम्वन्त सभी लोग सशंकित होकर राम को नहीं मिलने की राय देते हैं और कहते हैं :

जानि न जाइ निसाचर माया, काम रूप केहि कारन आया।
भेद हमार लेन सठ आवा, रखिअ बांधि मोहि अस भावा।

उस के जवाब में राम क्या कहते हैं वह सुनिये :

सखा नीति तुम्ह नीक बिचारी, मम पन सरनागत भय हारी।
सरनागत कहुं जे तर्जाहि, निज अनहित अनुमानि।
ते नर पावंर पापमय, तिन्हहि बिलोकत हानि।
कोटि बिप्र बध लागहिं जाहू, आएं सरन तजउं नहिं ताहू।

अव मैं आपको राम के अगाध शील तथा मर्यादापूर्ण व्यवहार, धर्म के एक दो उदाहरण देता हूं। धनुष भंग के पश्चात राम-परशुराम-सम्वाद में गोस्वामी जी ने राम के धीर, गम्भीर और सुशील अन्तःकरण का बड़ा ही प्रभावशाली चित्र उपस्थित किया है। कहां तो रौद्र मुद्रा में परशुराम की यह ललकार कि '**छल तजि करहु समर सिव द्रोही। बन्धु सहित न तु मारहुं तोही**' और कहां अतुल वलधाम राम की वह शीतल संयत वाणी--

राम कहेउ रिस तजिअ मुनीसा। कर कुठार आगे यह सीसा।
हमहिं तुम्हहि सरबरि कसि नाथा। कहहु न कहां चरन कहं माथा।

शील की भी सीमा होनी चाहिए, विशेषकर जब उसका पात्र वीरोचित विनम्रता को दुर्बलता समझ लेने की धृष्टता कर बैठे। बालि को मार कर राम ने सुग्रीव को किष्किन्धा का राजा बना दिया। वर्षा बीत कर शरद् ऋतु आ गई लेकिन सुग्रीव ने अभी तक सीता की खोज के लिए कुछ भी न किया। करुणा और शौर्य के ये उद्‌गार राम के व्यक्तित्व का एक नया रूप प्रस्तुत करते हैं :

सुग्रीवहुं सुधि मोरि बिसारी। पावा राज कोस पुर नारी।
जेहि सायक मैं मारा बाली। तेहि सर हतौं मूढ़ कहं काली।

इस नए रूप की दूसरी झलक उस समय मिलती है, जब राम को समुद्र के किनारे खड़े होकर लंका जाने का मार्ग देने की प्रार्थना करते तीन दिन व्यतीत हो गए और समुद्र ने एक न सुनी, राम के भी धैर्य की सीमा पार कर गई :

बिनय न मानत जलधि जड़, गए तीन दिन बीति ।
बोले राम सकोप तब, भय बिनु होइ न प्रीति ।

लछिमन बान सरासन आनू । सोखौं बारिधि बिसिख कृसानू ।।
सठ सन विनय कुटिल सन प्रीती । सहज कृपन सन सुन्दर नीती ।।
ममतारत सन ग्यान कहानी । अति लोभी सन बिरति बखानी ।।
क्रोधिहिं सम कामिहिं हरिकथा । ऊसर बीज बएं फल जथा ।।
अस कहि रघुपति चाप चढ़ावा । यह मत लछमन के मन भावा ।।

दूसरे ही क्षण समुद्र की अकल ठिकाने आ गई, और :

सभय सिंधु गहि पद प्रभु केरे । छमहु नाथ सब अवगुन मोरे ।।
प्रभु भल कीन्ह मोहिं सिख दीन्हीं । मरजादा सब तुम्हरिश्र कीन्हीं ।।

राम द्वारा स्थापित मर्यादा का एक दूसरा चित्र देखिए। लंका विजय के पश्चात हनुमान, सुग्रीव, विभीषण आदि मित्रों को लिए राम अयोध्या पहुचते हैं । वामदेव, वशिष्ठ आदि मुनियों के साथ भरत, राज माताएं तथा पुरवासी उनके स्वागत के लिए खड़े हैं । जिस क्रम, सौहार्द्र और विनय के साथ राम लोगों से मिलते हैं व्यवहार, धर्म का उससे सुन्दर उदाहरण मिलना दुर्लभ है । चौदह वर्ष से राम के बनवास की इस अन्तिम घड़ी की प्रतीक्षा कर रहे विह्वल हृदय भरत की आकुलता को समझते हुए भी राम सब से पहले क्या कहते हैं, देखिए :

धाइ धरे गुरु चरन सरोरुह । अनुज सहित अति पुलक तनोरुह ।।
भेंटि कुसल बूझी मुनिराया । हमरे कुसल तुम्हारिहिं दाया ।।

इसके बाद राम वहां पर उपस्थित ब्राह्मणों को प्रणाम करते हैं और जब कहीं भरत की बारी आती है अपने मित्रों का गुरु वशिष्ठ से परिचय कराते समय राम कहते हैं :

गुरु बशिष्ठ कुल पूज्य हमारे । इन्हकी कृपा दनुज रन मारे ।।

तथा दूसरी ओर बशिष्ठ से कहते हैं कि:

ए सब सखा सुनहु मुनि मेरे । भये समर सागर कहं बेरे ।।
मम हित लागि जन्म इन्ह हारे । भरतहुं ते मोहि अधिक पिआरे ।।

अपनी विजय का सारा श्रेय उदाराशय राम ने गुरु वशिष्ठ तथा अपने मित्रों को दे डाला। अपने लिए कुछ भी न रखा। राम राजा कैसे थे, और उनका राज्य-प्रबन्ध कैसा था, उसको सुनिए :

दैहिक दैविक भौतिक तापा। राम राज नहिं काहुहि व्यापा ।।

इससे भी सुन्दर राज्य की कल्पना क्या कोई कर सकता है ?

अन्त में मैं एक और विषय की संक्षिप्त चर्चा करके, आज की वार्ता समाप्त करूंगा। तुलसी पर लोग राम का अन्ध भक्त होने का दोषारोपण करते हैं। मेरे विचार से यह आरोप ठीक नहीं है। वैसे तो राम के चरित्र में दुर्बलता के कोई विशेष स्थल हैं ही नहीं, फिर भी जो दो एक हैं, गोस्वामीजी ने उन्हें छोड़ा नहीं है। दो ऐसे स्थलों की ओर मैं आपका ध्यान दिलाना चाहता हूं। पहला स्थल है राम का विना पर्याप्त कारण के वालि का वध करना। इस अवसर पर तुलसीदास ने बालि के मुंह से जो कठोर शब्द कहलाए हैं, राम के पास उनका कोई खास उत्तर नहीं है और न ही गोस्वामीजी ने इस विषय में उनकी कोई वकालत की है। राम को सामने खड़ा देखकर मरणासन्न बालि कहता है :

धरम हेतु अवतरेउ गोसाईं। मारेउ मोहि व्याध की नाईं ।।
मैं बैरी सुग्रीव पियारा। कारन कवन नाथ मोहिं मारा ।।

दूसरा दोष जिसके लिए तुलसी ने राम को क्षमा नहीं किया है, वह है बिना किसी अपराध के सीता का परित्याग और निर्वासन। उत्तरकाण्ड में तुलसी ने इस दुष्कार्य के लिए राम की बड़ी जबर्दस्त भर्त्सना की है। राम परिवार का वर्णन करते हुए वे कहते हैं :

दुइ दुइ सुत सब भ्रातन केरे। भये रूप गुन सील घनेरे ।।

अर्थात् राम के तीनों भाइयों के दो दो पुत्र हुए जो गुण रूप और शील में बहुत वढ़े-चढ़े हुए थे परन्तु स्वयं राम के पुत्रों के विषय में तुलसी ने जो कुछ कहा, वह ध्यान देने योग्य है :

दुइ सुत सुन्दर सीता जाए। लव कुस वेद पुरानन गाये ।।

लव कुश का जिक्र करते समय तुलसीदास ने राम का नाम ही उड़ा दिया। सीता जैसी सती के परित्याग के दोषी राम को तुलसी ने पितृपद से ही वंचित कर दिया। बेटों का परिचय बाप के नाम से ही देने की परम्परा है। 'दुइ दुइ सुत सब भ्रातन केरें' कह कर तुलसी ने इसी नीति का पालन किया, लेकिन 'दुइ सुत सुन्दर सीता जाये' कह कर तुलसी ने राम की वह भर्त्सना की, जो कोई अनन्य भक्त नहीं वरन् एक कवि हृदय कलाकार ही कर सकता है।

तुलसी के राम—दो

भारत में दीर्घकाल से अवतारों की परम्परा चली आई है किन्तु यदि अवतारों की व्याख्या और विवरणों को ज़रा सूक्ष्म और विश्लेषक दृष्टि से देखा जाए, तो पता चलेगा कि वास्तव में यह 'नर' के श्रेष्ठ रूप को 'नारायण' अथवा 'पुरुष' को ही 'पुरुषोत्तम' अथवा 'मर्यादा पुरुषोत्तम' के रूप में स्थापित करने का एक सामाजिक प्रयत्न था। इसके पीछे भक्ति से अधिक मानव के आज्ञाकारी कुटुम्ब-परिजन-प्रेमी, परोपकारी एवं पर-रक्षा के गुणों और क्षमता की प्रशंसा और मान्यता की भावना ही अधिक रही है। तुलसी के राम इसके ज्वलन्त प्रमाण हैं।

इसमें सन्देह नहीं कि तुलसीदास ने अपनी राम-कथा का आधार 'बाल्मीकि रामायण' को बताया किन्तु इसके अतिरिक्त उन्होंने 'अध्यात्म रामायण', 'प्रसन्नराघव', 'हनुमन्नाटक', 'रघुवंश', 'उत्तर रामचरित' आदि पूर्व रचनाओं से भी बहुत कुछ लिया किन्तु तुलसी के राम इन सबसे भिन्न एक अलौकिक चरित्र हैं, जहां बाल्मीकि वैदिक-युग की आर्य-संस्कृति के एकनिष्ठ प्रतिनिधि थे, वहां तुलसीदास उस संक्रान्ति काल के चारण बन कर सामने आए, जब कि हिन्दू-समाज विभिन्न मत-मतान्तरों एवं सम्प्रदायों की संकीर्णता और विजातीय प्रभाव-दबाव के कारण आर्य-संस्कृत के उत्कर्ष के गीत गाना ही अलम् नहीं था, वरन् एक ऐसे लौकिक राम की चरित्र-चर्चा करना था, जो मर्यादा पुरुषोत्तम के रूप में न केवल भक्तों की सूक्ष्म-भावनाओं का अवलम्बन ही बनें, बल्कि जन-साधारण की स्थूल भावनाओं का प्रतीक बन कर, उनमें नवोन्मेष की भावना एवं प्रेरणा भी जाग्रत कर सके। यही कारण है कि तुलसी के राम अलौकिक और अवतार कम हैं तथा लौकिक 'नर' ही 'नारायण' के रूप में अधिक हैं। जहां काव्य-नायक के रूप में राम अपूर्व हैं, वहां अपने धनुर्धारी रूप में भी वे काफी लौकिक और नरत्व के पौरुष-दर्प-भरे प्रमाण हैं।

इसीलिए जहां बाल्मीकि ने अपने काव्य में राम-जन्म की कोई विशेष महत्ता नहीं दिखलाई, तुलसी ने इस शुभ मुहूर्त को नाटकीय आनन्दोल्लास के साथ उपस्थित किया है और इस अवसर पर देवताओं द्वारा भी प्रसन्न होकर पुष्प वर्षा करने तथा दुंदुभी बजाने का उल्लेख किया है :

बरसहिं सुमन सुअंजलि साजी। गहगह गगन दुंदुभी बाजी॥
अस्तुति करहिं नाग मुनि देवा। बहु बिधि लावहिं निज निज सेवा॥

और स्वयं उन्होंने भी राम के अवतार को एक दिव्य स्मृति के रूप में व्यक्त किया :

भये प्रगट कृपाला, दीनदयाला, कौसल्या हितकारी ।

यहां राम के दीनदयालु रूप की विशेष रूप से वन्दना की गई है। इसका कारण यही जान पड़ता है कि उन्होंने उस समय के अन्धकार और निराशा से ग्रस्त भारतवासियों को, राम—जन्म को दीनों पर कृपा करने वाले, उनकी रक्षा करने वाले एक नर-नारायण के रूप में बता कर उन्हें बहुत बड़ी आशा और आश्वासन दिया, पर ऐसी दिव्य शक्ति का जन्म कौशल्या की कोख से ही क्यों हुआ इसका मानवीय रुप उन्होंने यों बताया है :

व्यापक ब्रह्म निरंजन निर्गुन बिगत बिनोद ।।
सो अज भगति प्रेम बश, कौशल्या की गोद ।।

इससे यह भी प्रकट है कि राम के दुष्ट-दलन और भक्त-वत्सल रूप को मन में एकाग्र रूप में रखते हुए भी तुलसी ने उनके काव्योचित नयनाभिराम रूप को चरम उत्कर्ष पर पहुंचाने में कभी कोताही नहीं की । यह कह कर कि 'गिरा **अनयन नयन बिनु बानी**' सगुणोपासक तुलसी ने राम के अलौकिक रूप का वर्णन करने में मानो अपनी अन्तर्दृष्टि को भी चरम सीमा के पार पहुंचा दिया, पर इसके बावजूद उनकी यह भावना राम के शौर्य को एक क्षण के लिए भी भुला न सकी । वीतराग जनक और जानकी जहां राम के शिव-धनुष के भंग और शर सन्धान को देख कर मुग्ध हो गए, वहां उनके शरों से आहत बालि, जीवन के अन्तिम क्षणों में भी राम का रूप देखकर अपनी घृणा और रोष भूल गया :

परा बिकल महि सर के लागे । पुनि उठ बैठ देखि प्रभु आगे ।।
स्याम गात सिर जटा बनाए । अरुन नयन सर चाप चढ़ाए ।।
पुनि-पुनि चितै चरन चित दीन्हे । सफल जनम माना प्रभु चीन्हे ।।
हृदय प्रीति मुख बचन कठोरा । बोला चितै राम की ओरा ।।

सहज बाल-रूप से धनुर्धारी राम का चित्रण कितना भिन्न है परन्तु इस भिन्नता में भी एक सुसंबद्धता है । वह यह कि राम केवल बाहर से ही कोटि-कोटि कामों को लज्जित करने वाले नहीं थे, वरन् उनका अन्तर रूप भी इतना दयालु और कृपालु था कि शत्रु भी उससे द्रवित-प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकते थे। हृदय की स्वच्छता, कोमलता और शील-गुण ही मानो उनका 'रामत्व' था और यह 'रामत्व' कभी भी, कैसी भी परिस्थिति में उनसे विलग नहीं हुआ ।

किन्तु ऐसे शील-गुणवान राम की कर्तव्य परायणता भी असाधारण ही थी। चौदह वर्ष के बनवास की बात सुन कर भी उन्होंने हँस कर कैकेई से कहा :

सुनु जननी सोइ सुत बड़भागी । जें पितु-मातु बचन अनुरागी ।।
तनय मातु-पितु तोषनिहारा । दुर्लभ जननी यह संसारा ।।

मुनिगन मिलन बिसेस बन, सर्बाहि भांति हित मोर ।
तेहि महं पितु आयसु बहुरि, सम्मत जननी तोर ।

राम को अपनी वंश-परम्परा पर भी बड़ा गर्व था :

रघुबंसिन कर सहज सुभाऊ । मन कुपंथ पग धरे न काऊ ।।
जिनके लहहिं न रिपु रन पीठी । नहिं लावहिं परतिय मन डीठी ।।

इससे स्पष्ट है कि रिपु पर सामने से वार करके उसे पराजित करने के लिए राम सचरित्रता को आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य भी मानते थे। यही नहीं, उन्होंने लक्ष्मण से यह भी कहा :

कही तात तुम नीति सुहाई । सबते कठिन राजमद भाई ।।
जो अंचवत नृप मातहिं तेई । नाहिन साधु सभा जिन सेई ।।

पर राजमद से मुक्त होकर भी उनका वीरोचित दर्प कभी भी सोया नहीं। धनुष---भंग के बाद परशुराम के कोप करने पर उन्होंने कहा:

राम कहा मुनि कहहु बिचारी । रिस अति बड़ि लघु चूक हमारी ।।

× × × ×

जौं हम निदरहिं बिप्र बदि, सत्य सुनहु भृगुनाथ ।
तौ अस को जग सुभट जेहि, भय बस नावहिं माथ ।।

× × × ×

देव दनुज भूपति भट नाना । समबल अधिक होउ बलवाना ।।
जौं रन हमहिं पचारे कोऊ । लरहिं सुखेन काल किन होऊ ।।
छत्रिय तनु धरि समर सकाना । कुल कलंक तेहि पावंर आना ।।
कहहुं सुभाउ न कुलहि प्रसंसी । कालहु डरहिं न रन रघुबंसी ।।

सुग्रीव को किष्किन्धा का राजा बनाने के बाद उसकी कृतघ्नता के लिए राम ने जो कहा वह भी सुनिए :

सुग्रीवहुं सुधि मोरि बिसारी । पावा राजकोस पुर नारी ।।
जेहि सायक मैं मारा बाली । तेहि सर हतौं मूढ़ कहं काली ।।

प्राणियों की तो बात ही दूर रही, पर्वत और सागर तक के प्रति वे असाधारण रूप में सदय और सहिष्णु थे, पर उनकी हठधर्मी देख कर वे उन्हें भी शिक्षा देने में सकुचाते नहीं थे। सीताजी के उद्धार के लिए जब वे लंका की ओर प्रस्थान करने को हुए तो, सागर का उफान देख कर वे तीन दिन तक रुके रहे, उनका अनुमान था कि उनके अनुरोध को स्वीकार कर सागर उन्हें मार्ग दे देगा पर सागर अनुनय—विनय से न पिघला, तब राम ने कहा :

विनय न मानत जलधि जड़, गए तीन दिन बीति ।
बोले राम सकोप तब, भय बिनु होइ न प्रीति ।।
काटेहिं पइ कदरी फरइ, कोटि जतन कोउ सींच ।
बिनय न मान खगेस सुनु, डाटेहि पइ नव नीच ।।

इस पर उन्होंने लक्ष्मण से कहा :

लछमन बान सरासन आनू । सोखौं बारिधि बिसिख कृसानू ।।
सठ सन बिनय कुटिल सन प्रीती । सहज कृपन सन सुन्दर नीती ।।
ममतारत सम, ज्ञान कहानी । अति लोभी सन बिरति बखानी ।।
क्रोधिहिं सम कामिहिं हरि कथा । ऊसर बीज बये फल जथा ।।
अस कहि रघुपति चाप चढ़ावा । यह मत लछमन के मन भावा ।।

पर उन्हें ऐसा करते देख समुद्र की अकल ठिकाने आ गई और वह बोला :

सभय सिंधु गहि पद प्रभु केरे । छमहु नाथ सब अवगुन मेरे ।।
प्रभु भल कीन्ह मोहिं सिख दीन्हीं । मरजादा सब तुम्हरिअ कीन्हीं ।।

एक ओर जहां राम का यह वीर दर्प था, वहीं दूसरी ओर उसकी विनयशीलता भी इतनी ही ऊंची थी। 14 वर्ष के वनवास के बाद लौटकर उन्होंने सब व्याकुल घर वालों को देख कर भी अनदेखा किया और सबसे पहले गुरु वशिष्ठ के चरणों की ओर झुके :

धाइ गहे गुरु चरन सरोरुह । अनुज सहित अति पुलक तनोरुह ।।
भेंटे कुसल बूझी मुनिराया । हमरे कुसल तुम्हारिहि दाया ।।

आसपास खड़े लोगों को अपने गुरु की गरिमा का परिचय देते हुए उन्होंने कहा :

गुरु वसिष्ठ कुल पूज्य हमारे । जिन्हकी कृपा दनुज रन मारे ।।

यह है राम की महानता कि अपने बल पौरुष से उन्होंने जिन राक्षसों को रणांगन में मारा था, उसका श्रेय भी उन्होंने गुरु की कृपा को ही दिया। भवभूति ने भी राम के सम्बन्ध में कहा है :

वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमादपि ।
लोकोत्तराणां चेतांसि को नु विज्ञातुमर्हति ।।

इन्हीं राम की वन्दना में तुलसी को कहना पड़ा :

रामं कामारिसेव्यं भवभयहरणं कालमत्तेभसिंहं,
योगीन्द्रज्ञानगम्यं गुणनिधिमजितं निर्गुणं निर्विकारम् ।
मायातीतं सुरेशं खलवधनिरतं ब्रह्मवृन्दैकदेवं,
वन्दे कुन्दावदातं सरसिजनयनं देवमुर्वीशरूपम् ।

ऐसे तुलसीदास को जब एक बार कृष्ण मन्दिर में ले जाया गया और मुरलीधर कृष्ण की वन्दना करने को कहा गया, तो उनके मुंह से यही निकला :

कहा कहौं छबि आज की, भले बने हो नाथ ।
तुलसी मस्तक तब नवै, धनुष बान लौ हाथ ।।

यथार्थ में तुलसी के राम यही धनुर्धारी, प्रजा-वत्सल, दुष्ट-दलनकारी नयनाभिराम राम हैं, जिस रूप की झांकी आज की परिस्थिति में खास तौर पर भारत के करोड़ों नर-नारी देखना चाहते हैं ।

तुलसी का चरित्र-चित्रण

इससे पूर्व के दो प्रवचनों में मैंने आपके सामने तुलसी काव्य की सामाजिक पृष्ठभूमि तथा वर्णन-शैली के बारे में कुछ विचार रखे थे। आज की हमारी चर्चा का विषय होगा तुलसी का चरित्र-चित्रण। यह विषय इतना गम्भीर और विशाल है कि इसके साधारण विवेचन के लिए भी काफी समय चाहिए। ऐसी अवस्था में अत्यन्त संक्षेप में, मैं आपके सम्मुख दो चार बातें रखने का प्रयास करूंगा।

गोस्वामी तुलसीदास को हमारे इतिहास के एक ऐसे युग में हिन्दू जाति का नेतृत्व करना पड़ा, जब उसकी अवस्था बहुत बुरी थी। जनसाधारण के सामने अपने प्राचीन आदर्शों और मर्यादाओं को पुनः प्रतिष्ठित करने के लिए ऐसी कोई प्रेरणा और आस्था नहीं थी, जिसके सहारे वे आगे बढ़ सकते थे। गोस्वामीजी ने यह कठिन कार्य अपने रामचरित मानस में दशरथ और जनक, राम और भरत, लक्ष्मण और हनुमान, विभीषण और सुग्रीव, पार्वती और सीता, कैकेयी और मंथरा मंदोदरी और सुलोचना, निषाद और शबरी आदि अनेक ऐसे चरित्रों की रचना करके किया, जिनको साधारण जनता ने केवल अपना आदर्श ही नहीं बनाया, बल्कि अपने दैनिक जीवन का एक अंग भी बना लिया। तुलसीदास के चरित्र-चित्रण की सबसे बड़ी विशेषता है, चरित्रों की स्वाभाविकता, और यही कारण है कि रामचरित मानस को पढ़ने या सुनने वाला जहां एक ओर भगवान् राम के विवाहोत्सव में आनन्दमग्न हो नाच उठता है, वहीं दूसरी ओर राम-वनवास के समय अपने आंसू भी नहीं रोक पाता। सीता-हरण और लक्ष्मण-मूर्च्छा के अवसर पर भगवान राम तथा अपने पतियों की मृत्यु के उपरान्त तारा और मंदोदरी द्वारा किए गए करुण विलाप, मानस के ऐसे स्थल हैं, जिन्हें पढ़कर करुणा और संवेदना की धारा फूट पड़ती है।

भगवान राम की लोक मंगल तथा लोक मर्यादा के संस्थापक के रूप में ऐसे कौशल से प्रतिष्ठा हुई है कि पाठक राम के साथ एक अद्भुत आत्मीयता का अनुभव करने लगता है। वह उन्हें एक ऐसे राजपुरुष की तरह नहीं देखता, जो उससे बहुत ऊंचा हो या जिसके पास उसकी पहुंच न हो। राम के मित्रों और सहायकों के प्रति स्वाभाविक स्नेह और सहानुभूति तथा उनके विरोधियों और शत्रुओं के प्रति स्वाभाविक क्रोध से प्रेरित पाठक राम को हर प्रकार से अपना समझने लगता

है। शक्ति, शील, क्षमा, दया, विनय और सौन्दर्य आदि गुणों से समन्वित भगवान के लोकप्रिय रूप की प्रतिष्ठा कर गोस्वामीजी ने जनसाधारण का बहुत बड़ा उपकार किया है। इसी प्रकार आप मानस के किसी भी अन्य चरित्र को ले लीजिए, गोस्वामीजी का सजीव चित्रण उसे आपके स्थायी भावों का एक अंग बना देता है।

मानव चरित्रों का प्रभावशाली चित्रण करने के साथ-साथ मन, मोह, प्रेम आदि सूक्ष्म तथा अमूल्य भावों का सुन्दर विश्लेषण करने में भी गोस्वामीजी बहुत आगे बढ़े हुए थे। मन का वर्णन कबीर आदि कवियों ने भी किया है, परन्तु विनय-पत्रिका में गोस्वामीजी ने जो कुछ कहा है, वह अपने ढंग का अद्वितीय है। मन की चंचलता सर्व विदित है। यहां से वहां और वहां से यहां उड़ानें भरते रहना ही उसका स्वभाव है। वह सन्तों, साधकों और सिद्धों के भी बस में नहीं आता, साधारण मनुष्य का क्या कहना।

कबहूं मन विश्राम न मान्यो।
निसिदिन भ्रमत बिसारि सहज सुख, जहं तहं इन्द्रिन्ह तान्यो।
जदपि बिषय संग सह्यौ दुसह दुख, बिषम जाल अरुझान्यो।
तदपि न तजत मूढ़ ममताबस, जानत हूं नहिं जान्यो।

इतना ही नहीं, मन बड़ा हठी भी है। जिस काम पर जम जाए, लाख समझाते रहिए, उस पर से हटना जानता ही नहीं। जरा आप यहां अनुपम उपमा देखिए:

मेरो मन हरि जू ! हठ न तजै।
निसिदिन नाथ देउं सिख बहु बिधि, करत सुभाउ निजै।
ज्यों जुबती अनुभवति प्रसव अति दारुन दुख उपजै।
ह्वै अनुकूल बिसारि सूल सठ पुनि खल पतिहिं भजै।
लोलुप भ्रम गृहपसु ज्यों जहं तहं सिर पदत्रान बजै।
तदपि अधम बिचरत तेहि मारग कबहुं न मूढ़ तजै।

हठी होने के साथ-साथ मन की मूर्खता भी मामूली नहीं है। जहां पर जानता है कि ठोकर के अलावा और कुछ न मिलेगा, वहां भी बार-बार चक्कर लगाया करता है : शब्दों का चुनाव भी देखने लायक है, इस कविता में :

ऐसी मूढ़ता या मन की।
परिहरि राम भगति सुरसरिता आस करत ओसकन की।
धूमसमूह निरखि चातक ज्यों तृषित जानि मति घन की।
नहिं तहं सीतलता न बारि, पुनि हानि होति लोचन की।
ज्यों गज कांच बिलोकि सेन जड़ छांह आपने तन की।

टूटत अति आतुर अहार बस छति बिसारि आनन की ।
कह लों कहौं कुचाल कृपानिधि जानत हौ गति जन की ।
तुलसिदास प्रभु हरहु दुसह दुख, करहु लाज निज पन की ।।

तुलसीदास कहते हैं कि हे प्रभु ! इस मूर्ख मन को राह पर लाना मुझसे तो हो चुका । अब केवल यही आशा है कि आप अपने प्रण की लाज रखकर हमारा भी उद्धार कर दें ।

उपरोक्त पद के अतिरिक्त भी तुलसीदासजी ने प्रेम के प्रसंग में कई बार चातक का दृष्टान्त दिया है, विशेष कर एकांगी प्रेम का तो उन्होंने चातक को सर्वोत्कृष्ट उदाहरण माना है:

तुलसी के मत चातकहिं, केवल प्रेम पिआस ।
पियत स्वातिजल जान जग, जांचत बारह मास ।

× × ×

रटत रटत रसना लटी, तृषा सूखिगे अंग ।
तुलसी चातक प्रेम को नित नूतन रुचि रंग ।।

इतना ही नहीं, स्वाति जल की आशा में बादल की राह देखते- देखते जीवन बीत जाता है । प्रिय का दर्शन तो मिला नहीं, ऊपर से पत्थरों की वर्षा अलबत्ता हुई। बेचारे चातक के पंख टूक-टूक हो जाते हैं लेकिन उसकी लगन में तिल भर का भी अन्तर नहीं पड़ता :

जलद जन्म भरि सुरति बिसारेउ । जांचत जल पविपाहन डारेउ ।।
चातक रटनि घटे घटि जाई । बढ़ो प्रेम सब भांति भलाई ।।
उपल बरषि गरजत तरजि, डारत कुलिस कठोर ।
चितव कि चातक मेघ तजि, कबहुं दूसरी ओर ।।

चातक अपने में कोई फर्क आने नहीं देता और उस पर कैसा भी कठोर व्यवहार क्यों न हो, वह बदलता नहीं । यह है एकांगी प्रेम ।

तुलसीदासजी कहते हैं कि दुनिया का पवित्र से पवित्र जल भी चातक के लिए बेकार है :

गंगा जमुना सरस्वती, सात सिन्धु भरपूर ।
तुलसी चातक के मते, बिन स्वाती सब धूर ।।

और यही तो कारण है कि आखिरी वक्त में भी चातक अपनी अटूट प्रेम साधना में तनिक भी दाग नहीं लगने देता :

बध्यो बधिक पर्‌यो पुन्य जल उलटि उठाई चोंच ।
तुलसी चातक प्रेम पट, मरतहुं लगी न खोंच ।।

× × ×

ऊंची जाति पपीहरा, पिये न नीचो नीर ।
कै जांचे घनश्याम सों, कै दुख सहे सरीर ।।

मरते हुए भी अपना प्रण निबाहता है। गंगा का पवित्र जल भी उसके प्रेम में न लगे, चोंच को ऊपर उठा लेता है।

यह तो हुई चातक के प्रेम की पराकाष्ठा। तुलसीदासजी के विचार में चातक जीवन के एक और क्षेत्र में भी बहुत ऊंचा आदर्श उपस्थित करता है, और वह क्षेत्र है, दानी से दान की याचना करना परन्तु ऐसी शान और मर्यादा के साथ कि वह भी समझे कि कोई याचक आया था।

कविवर रहीम ने मांगने को बहुत हेठी की दृष्टि से देखा है। वह कहते हैं :

रहिमन वे नर मरि चुके, जो कहुं मांगन जाहिं ।
उनते पहिले वे मुये, जिन मुख निकसत नाहिं ।।

दूसरे कवि ने कहा :

सब तें लघु रे मांगिबो, या में फेर न सार ।
बलि पैं जांचत ही भये वामन तन करतार ।।

लेकिन तुलसी का चातक तो याचकों की एक और ही श्रेणी में आता है। क्या मान है चातक का :

मान राखिबो, मांगिबो, पिय सों नित नव नेहु ।
तुलसी तीनिउ तब फबैं, जो चातक मत लेहु ।।
ह्वै अधीर जांचे नहीं, सीस नाय नहिं लेइ ।
ऐसे मानी मांगनेहि को बारिद बिन देइ ।।

चातक जैसे उच्च कोटि के निःस्वार्थ और मानी प्रेमी को अपना आदर्श मानने वाले तुलसीदास पर लोग कभी-कभी अन्ध भक्त होने का दोषारोपण करते हैं। वे कहते हैं कि तुलसीदास ने राम को अपना आराध्य समझ कर उनके अवगुणों और दुर्बलताओं की तरफ से एक दम आंख मूंद ली है। मेरे विचार से यह आक्षेप ठीक नहीं है। ऐसे तो राम के चरित्र में दुर्बलता के कोई विशेष स्थल हैं ही नहीं, फिर भी जो एक दो हैं, तुलसीदासजी ने उन्हें छोड़ा नहीं है। दो ऐसे स्थलों की ओर मैं आपका ध्यान दिलाना चाहता हूं। पहला स्थल है, राम का बिना पर्याप्त

कारण के बालि का बध करना। इस अवसर पर तुलसीदास ने बालि के मुंह से जो शब्द कहलाए हैं, राम के पास उनका कोई खास जवाब नहीं है और न ही गोस्वामीजी ने इस विषय में उनकी कोई वकालत की है।

हृदय में बाण लगने से विह्वल होकर बालि गिर पड़ता है परन्तु ज्योंही उठकर बैठता है, सामने 'स्यामगात सिरजटा बनाये'। अरुन नयन सर चाप बढ़ाये।' राम को देख कर उन्हें पहचान लेता है। अन्तिम समय में स्वयं भगवान को सामने देख कर अपने जीवन को सफल मानता है, परन्तु :

हृदय प्रीति मुख बचन कठोरा। बोला चितै राम की ओरा ॥
धर्म हेतु अवतरेहु गोसाईं। मारेहु मोहिं ब्याध की नाईं ॥
मैं बैरी सुग्रीव पिआरा। अवगुन कवन नाथ मोहिं मारा ॥

इन शब्दों की कठोरता से बालि भगवान को सदा के लिए निरुत्तर बना देता है।

इसके पश्चात दूसरा स्थल, जिसकी तरफ मैं आपका ध्यान आकर्षित करना चाहता हूं, वह है बिना किसी अपराध के राम का सीताजी को परित्याग कर निर्वासित कर देना। सम्भवतः राम के जीवन में यह सबसे बड़ा कलंक है। तुलसीदास ने लवकुश कांड तो नहीं लिखा लेकिन उत्तरकांड में ही बहुत थोड़े शब्दों में इस ज़बरदस्त तरीके से उन्होंने राम के इस अन्याय की भर्त्सना की है कि शायद अनेक परिच्छेद लिख कर भी वे ऐसा न कर पाते।

राम परिवार का वर्णन करते हुए तुलसीदासजी कहते हैं :

दुइ दुइ सुत सब भ्रातन केरे। भए रूप गुन सील घनेरे।

अर्थात् राम के तीनों भाइयों के दो-दो पुत्र हुए जो रूप, गुण और शील में बहुत बढ़े-चढ़े हुए थे परन्तु स्वयं राम के पुत्रों के विषय में उन्होंने जो कुछ कहा वह ध्यान देने योग्य है :

दुइ सुत सुंदर सीता जाए। लव कुश वेद पुरानन्ह गाए ॥

लव कुश का जिक्र करते समय तुलसीदासजी ने राम का नाम ही उड़ा दिया। सीता जैसी सती का परित्याग करने वाले राम को तुलसीदास ने पितृ-पद से ही वंचित कर दिया। सभी जानते हैं कि बेटों का परिचय बाप के नाम से दिया जाता है। **'दुइ दुइ सुत सब भ्रातन्ह केरे'** कह कर तुलसीदास ने इसी परम्परा का पालन किया। लेकिन **'दुइ सुत सुंदर सीता जाए'** कह कर तुलसीदास ने राम की वह भर्त्सना की, जो कोई अन्य भक्त कभी नहीं कर सकता था।

सच्चे मित्र का चरित्र कैसा होना चाहिए, उसका भी गोस्वामीजी ने बड़ा ही मार्मिक चित्रण किया है। वे कहते हैं :

जे न मित्र दुख होंहि दुखारी । तिन्हहिं बिलोकत पातक भारी ।।
निज दुख गिरि सम रज करि जाना । मित्र क दुख रज मेरु समाना ।।

जो लोग मित्र का दुख देखकर दुखी नहीं होते, उन्हें देखने से भी पाप लगता है। सच्चा मित्र अपने पहाड़ के समान दुरूह दुख को धूल के समान नगण्य तथा मित्र के जरा से दुख को सुमेरु पर्वत के समान कठिन और भारी समझता है।

तुलसीदास कहते हैं कि वेदों ने भी श्रेष्ठ मित्र का यही लक्षण बताया है :

देत लेत मन संक न धरई । बल अनुमान सदा हित करई ।।
बिपति काल कर सतगुन नेहा । श्रुति कह संत मित्र गुन एहा ।।

मित्र को देने और उससे लेने में किसी प्रकार का संकोच न होना चाहिए। अपनी सामर्थ्य के अनुसार सदा मित्र का भला करते रहना चाहिए, तथा जब मित्र के ऊपर कोई विपत्ति आ पड़े, उस समय साधारण से सौ गुना स्नेह बढ़ा देना चाहिए।

रामायण में अनेक ऐसे स्थानों का समावेश है, जहां पात्रों द्वारा समय और परिस्थिति के अनुकूल उचित आचरण कराकर गोस्वामीजी ने आदर्श व्यवहार की प्रतिष्ठा की है। जिस समय वशिष्ठादि गुरुजनों के साथ चित्रकूट की यात्रा में भरत गंगाजी के किनारे पहुंचते हैं, तो देखिए निषाद उनसे किस प्रकार मिलता है :

प्रेम पुलकि केवट कहि नामू । कीन्ह दूरि तें दंड प्रनामू ।।
राम सखा रिषि बरबस भेंटा । जनु महि लुठत सनेह समेटा ।।

परम श्रद्धेय वशिष्ठ को देखकर निषाद दूर से ही अपना परिचय देकर उन्हें प्रणाम करता है। तत्कालीन सामाजिक व्यवस्था में निषाद जैसी अछूत जाति का होकर वह निकट नहीं जा सकता था परन्तु भगवान राम का मित्र जान कर वशिष्ठजी ने एक आत्मीय की भांति उसे आशीर्वाद दिया तथा 'राम का मित्र' कह कर भरत से उसका परिचय कराया। 'राम के मित्र' की बात सुनते ही भरत ने निषाद को जो स्नेह और आदर दिया, देखने लायक है:

राम सखा सुनि संदनु त्यागा । चले उतरि उमगत अनुरागा ।।
भेंटत भरतु ताहि अति प्रीती । लोग सिहाहिं प्रेम कै रीती ।।

इस कथा से थोड़ा पहले जिस वक्त तुलसीदासजी राम, सीता और लक्ष्मण के पैदल बन गमन का वर्णन करते हैं, वहां पर सीता का राम के प्रति तथा लक्ष्मण

का राम और सीता के प्रति कैसा मर्यादापूर्ण व्यवहार है। गोस्वामीजी के शब्दों में सुनिए :

प्रभु पद रेख बीच बिच सीता । धरति चरन मगु चलति सभीता ॥
सीय राम पद अंक बराए । लषन चलहिं मग दाहिन बाएं ॥

अर्थात् सीताजी भगवान के चरण चिन्हों के बीच-बीच में पैर रख कर चल रही हैं तथा लक्ष्मणजी राम और सीता दोनों के चरण चिन्हों को बचा कर दाहिनी बाईं ओर पैर रखकर चल रहे हैं। पति के प्रति पत्नी की श्रद्धा तथा बड़े भाई और माता तुल्य भाभी के प्रति देवर की भक्ति का कितना अनूठा आदर्श गोस्वामीजी ने प्रस्तुत किया है।

इसी प्रकार हनुमान, सुग्रीव, विभीषण आदि मित्रों के साथ लंका विजय करके भगवान राम जब अयोध्या लौटते हैं, तो सबसे पहले गुरु वशिष्ठ के पास जाते हैं। गुरु का चरण-स्पर्श कर लेने के बाद राम वशिष्ठ का अपने मित्रों से और मित्रों का गुरुवर वशिष्ठ से जिस सौजन्य और उदारतापूर्ण भाषा में परिचय कराते हैं उसकी तुलना में आजकल की कृत्रिमताभरी परिचय-प्रणाली कितनी हृदयहीन प्रतीत होती है। अपने मित्रों से राम कहते हैं:

गुरु वसिष्ठ कुल पूज्य हमारे । इन्हकी कृपा दनुज रन मारे ॥

तथा दूसरी ओर वशिष्ठ से अपने मित्रों का परिचय देते हुए कहते हैं:

ये सब सखा सुनहु मुनि मेरे । भये समर सागर कहं बेरे ॥

अपनी विजय का सारा श्रेय उदारतावश राम ने गुरु वशिष्ठ को तथा अपने मित्रों को दे डाला, अपने लिए कुछ भी नहीं रखा।

अब मैं आपको अयोध्या कांड के उस स्थल पर ले चलना चाहता हूँ, जब रामचन्द्र के राज्याभिषेक को केवल एक दिन रह गया है। हफ्तों पहले से अयोध्यावासी इस शुभ दिवस की तैयारी और प्रतीक्षा में आनन्द विभोर हो रहे हैं। केवल एक व्यक्ति है, जिसके हृदय में राम—राज्याभिषेक की बात सुनते ही शूल सा उत्पन्न हो गया है :

पूछेसि लोगन्ह काह उछाहू । राम तिलक सुनि भा उर दाहू ॥

कहने की आवश्यकता नहीं कि यह व्यक्ति कैकेयी की दासी कुबड़ी मन्थरा थी, जिसने अपने कुटिल त्रिया चरित्र से इतने आनन्द और उत्साह के अवसर को महान शोक और विपत्ति के अवसर में बदल दिया। मंथरा, कैकेयी और इस प्रसंग में महाराजा दशरथ का तुलसीदासजी ने जो चित्रण किया है, वह अपनी प्रौढ़ता में अद्वितीय है :

कैकेयी के पास पहुंचने पर मंथरा का नाटक देखने लायक है :

भरत मातु पहिं गइ बिलखानी । का अनमनि हसि कह हंसि रानी ।।
ऊतरु देइ न लेइ उसांसू । नारि चरित करि ढारइ आंसू ।।
हंसि कह रानि गालु बड़ तोरें । दीन्ह लखन सिख अस मन मोरें ।।
तबहुं न बोल चेरि बड़ि पापिनि । छाड़इ स्वास कारि जनु सांपिनि ।।

कैकेयी ने बुरा मान कर पूछने पर कि आखिर बोलती क्यों नहीं, कुशल तो है ? मंथरा कहती है :

रामहिं छाड़ि कुसल केहि आजू । जिन्हहिं जनेसु देइ जुबराजू ।।
पूत बिदेस न सोचु तुम्हारें । जानति हहु बस नाहु हमारें ।।
नींद बहुत प्रिय सेज तुराई । लखहु न भूप कपट चतुराई ।।

मंथरा की इस खोटी बात को सुनकर कैकेयी पहले क्रोध से दांत पीसने लगती है, उसी कैकेयी द्वारा बाद में राम के लिए चौदह वर्ष का वनवास मंगवाने वाले मंथरा के वचन कितने कपटपूर्ण हैं, आगे देखिए:

हमहुं कहब अब ठकुर सोहाती । नाहिं त मौन रहब दिन राती ।।
करि कुरूप विधि परबस कीन्हा । बचा सो लुनिअ लहिअ जो दीन्हा ।।
कोउ नृप होउ हमहिं का हानी । चेरि छाड़ि अब होब कि रानी ।।
जारै जोगु सुभाउ हमारा । अनभल देखि न जाइ तुम्हारा ।।
तातें कछुक बात अनुसारी । छमिअ देबि बड़ि चूक हमारी ।।

इस प्रकार कैकेयी के हृदय पर अपनी हार्दिकता और ईमानदारी का सिक्का जमा कर मंथरा ने आगे जो कुछ कहा, उसने रानी की मति ही पलट दी :

तुम्ह पूछहु मैं कहत डेराऊं । धरेहु मोर घरफोरी नाऊं ।।
प्रिय सिय रामु कहा तुम्ह रानी । रामहि तुम्ह प्रिय सो फुरि बानी ।।
रहा प्रथम अब ते दिन बीते । समउ फिरे रिपु होंहिं पिरीते ।।
भानु कमल कुल पोषनिहारा । बिनु जल जारि करइ सोइ छारा ।।
जरि तुम्हारि चह सवति उखारी । रूंधहु करि उपाउ बर बारी ।।
चतुर गंभीर राम महतारी । बीचु पाइ निज बात संवारी ।।
पठए भरतु भूप ननिअउरें । राम मातु मत जानब रउरें ।।

अनेकों तर्कों और दृष्टान्तों से कैकेयी के ईर्ष्या भाव को जगा कर मंथरा आखिरी चोट करती है:

जौं असत्य कछु कहब बनाई । तौं विधि देइहि हमहि सजाई ।।
रामहि तिलक कालि जौ भयऊ । तुम्ह कहं विपति बीजु विधि बयऊ ।।
रेख खंचाइ कहउं बलु भाखी । भामिनि भइहु दूध कइ माखी ।।
जौं सुत सहित करहि सेबकाई । तो घर रहहु न आन उपाई ।।

कुबड़ी का निशाना बिल्कुल ठीक बैठा और अब कैकेयी की दशा देखिए:

सुनु मंथरा बात फुरि तोरी । दहिन आंखि फरकइ नित मोरी ।।
दिन प्रति देखउं राति कुसपने । कहउं न तोह मोह बस अपने ।।
नैहर जनमु भरब बरु जाई । जिअत न करबि सवति सेवकाई ।।
अरि बस दैउ जिआवत जाही । मरनु नीक तेहि जीवन चाही ।।

तुलसीदासजी कहते हैं:

कुबरीं करि कबुली कैकेई । कपट छुरी उर पाहन टेई ।।
लखइ न रानि निकट दुखु कैसे । चरै हरित तृन बलिपसु जैसे ।।

अन्त में अपने दोनों वर मांगने का दृढ़ संकल्प करके कैकेयी कोप भवन में जा बैठती है। शाम को राजा दशरथ आनन्दसहित कैकेयी के भवन में पधारते हैं परन्तु रानी कोप भवन में हैं, यह समाचार सुनकर उनकी जो दशा होती है, उसका वर्णन आप तुलसीदासजी के शब्दों में सुनिए:

कोप भवन सुनि सकुचेउ राऊ । भय बस अगहुड़ परइ न पाऊ ।।
सुरपति बसइ बाहं बल जाकें । नरपति रहंहि सकल रुख ताकें ।।
सो सुनि तिय रिस गयउ सुखाई । देखहु काम प्रताप बड़ाई ।।
सूल कुलिस असि अंगनिहारे । ते रतिनाथ सुमन सर मारे ।।

इन पंक्तियों का उल्लेख करते समय मुझे संसद की लांबी की एक घटना याद आ जाती है। एक बार कई मित्रों के साथ कुछ साहित्यिक चर्चा चल पड़ी। उन्होंने शेक्सपियर की एक पंक्ति उद्धृत की:

'सुन्दरता एक ऐसी डायन है, जिसका साक्षात्कार होते ही वीरता स्खलित होकर कापुरुषता बन जाती है।' मैंने अपने मित्र से कहा कि निस्सन्देह शेक्सपियर का यह कथन बहुत सुन्दर है परन्तु क्या आपने इसी विषय पर तुलसीदासजी के इससे भी सुन्दर और सजीव वर्णन पर ध्यान दिया है:

सुरपति बसइ बाहं बल जाकें । नरपति रहंहि सकल रुख ताकें ।
सो सुनि तिय रिस गयेउ सुखाई । देखहु काम प्रताप बड़ाई ।।

मानना पड़ेगा कि तुलसी की यह सुन्दर उक्ति अपने ढंग की अनोखी बन पड़ी है।

राम-राज्य का आदर्श--एक

(राजनीतिक)

तुलसीदास के "रामचरितमानस" को यदि हम भारतीय जीवन की आचार-संहिता कहें, तो कोई अत्युक्ति न होगी। सभी दृष्टियों से वह व्यक्ति, परिवार, समाज और राष्ट्र का एक सम्पूर्ण जीवन-दर्शन है। राजा और प्रजा के कर्म तथा कर्तव्यों का इतना समीचीन निरूपण शायद ही और कहीं प्राप्त हो। इस दृष्टि से "रामचरितमानस' भगवान राम के अन्यान्य चरितों से–जैसे कालिदास के 'रघुवंश', वाल्मीकि और क्षेमेन्द्र की रामायणों, भवभूति के 'उत्तर रामचरित' तथा पालि-जातकों की रामकथाओं से न केवल भिन्न ही है, वरन् लौकिक दृष्टि से अद्वितीय भी।

तुलसीदासजी से पूर्व न तो कवि ही कम हुए, और न भक्त ही। भारत के इतिहास में ऐसे अतुल बलशाली श्रेष्ठ वीरों, योद्धाओं और शासकों की कमी नहीं रही, जिनके वीरता के कार्यों और अन्य सुकृत्यों का अच्छे-से-अच्छे रूप में बखान न किया गया हो। ऐसे राजाओं और सम्राटों की भी कमी नहीं रही, जिनकी उदारता, प्रजावत्सलता और न्यायपरायण शासन के लिए भूरि-भूरि प्रशंसा न की गई हो। राम और दशरथ से भी पहले इक्ष्वाकु-वंश में ही अनेक श्रेष्ठ और पराक्रमी राजा हुए और उनके सम्बन्ध में काफी कुछ लिखा भी गया है। पर जब हम 'रामचरित-मानस' को ध्यान से देखते हैं, तो ऐसा लगता है कि सभी दृष्टियों से न तो राम से पूर्व उन जैसा कोई आदर्श शासक ही हुआ, और न तुलसीदासजी-सा निष्ठावान कवि ही।

रामचरित मानस की रचना की पृष्ठभूमि पर एक विहंगम दृष्टि डालने से पता चलता है कि वह भारतीय इतिहास का एक बड़ा ही संकट-काल था। हम्मीर की मृत्यु के साथ ही 'वीर गाथाकाल' समाप्त हो चला था और हिन्दी-कविता राजकीय क्षेत्र से हटकर भक्ति और प्रेम के मार्ग पर बह चली थी। निराश-हताश लोग अपने बल-पुरुषार्थ, स्वतन्त्रता आदि की बातें भुलाकर भगवान की शक्ति और दया-दाक्षिण्य की भीख मांगने लगे थे। **"ब्रह्म-ज्ञान बिनु नारि नर कहहिं**

न दूसरि बात"। रामानन्द और वल्लभाचार्य ने भागवत-धर्म को पुनरुज्जीवित करने का प्रयास किया। कबीर और सूर ने मानव तथा भगवान के प्रेममय संबंधों के गीत गाए। कुतबन और जायसी ने अपने प्रबंधों द्वारा भगवत्प्रेम के मानवीय रूप का चित्रण किया किन्तु तुलसीदास ने भक्ति और प्रेम के सुन्दर एवं समीचीन समन्वय द्वारा एक ऐसा राम-रसायन प्रस्तुत किया, जिससे निराश-हताश देश ने नई आशा, उत्साह, आत्म-विश्वास और शक्ति प्राप्त की। राम के प्रतीक-स्वरूप उन्होंने भगवान के लोकधर्मी और लोकरंजक रूप को ऐसी आस्था और भक्ति के साथ उभारा, कि जन-साधारण में नई जान-सी आ गई। सारे देश में रामकथा की पवित्र वाणी एक नई प्रेरणा तथा आराधना-उपासना के रूप में गूंज उठी।

तुलसी के आराध्य राम जन-गण के ही नहीं, ऋषि-मुनियों के भी इष्टदेव, सेव्य और सुखधाम बन गए। इसका उल्लेख उन्होंने भगवान शंकर के मुह से इस प्रकार करवाया है:

जासु कथा कुंभज ऋषि गाई। भगति जासु मैं मुनिहिं सुनाई ।।
सोइ मम इष्टदेव रघुबीरा। सेवत जाहि सदा मुनि धीरा ।।
सोइ राम व्यापक ब्रह्म भुवननिकायपति मायाधनी।
अवतरेउ अपने भगत हित निज तंत्र नित रघुकुल-मनी ।।

इससे जहां राम की व्यापक महत्ता का पता चलता है, वहां यह भी स्पष्ट हो जाता है कि यदि राम भगवान विष्णु के अवतार थे भी, तो यह अवतार केवल भगत-हित था—अर्थात् अपने भक्तों की रक्षा करने के लिए ही। यहां इस बात को भली भांति समझ लेना चाहिए कि जहां तक रामचरितमानसका सम्बन्ध है, तुलसीदासजी ने सर्वत्र राम के अवतार की अपेक्षा उनके मानव-रूप की ही चर्चा विशेष रूप से की है। इसलिए राम का लोकधर्मी और लोकरंजक रूप ही भारतीय जनता में अविस्मरणीय हो गया है।

इस मान्यता की सच्चाई इससे भी सिद्ध होती है कि महाराज दशरथ ने, राम और लक्ष्मण के वयस्क होते ही उन्हें विश्वामित्र ऋषि को सौंप दिया। उनके आश्रम में उनकी शिक्षा-दीक्षा राज-धर्म को दृष्टिगत रखकर ही हुई। इस प्रकार दुष्टों, असुरों और राक्षसों के अत्याचारों से तंग आए, शान्तिपूर्वक यज्ञ-उपासना करने वाले ऋषि-मुनियों की रक्षा करना और उन समाज-विरोधी तत्वों का दलन करना ही उनका प्राथमिक कार्य और कर्तव्य बना। इस पर भी राम की अगर कोई विशेषता थी, तो यही कि उन्होंने अपने इस राज कर्म को अन्यान्य शासकों की तरह अपने अधीनस्थ कर्मचारियों को भेजकर नहीं करवाया। वे भी चाहते तो

एक बड़ी सेना भेजकर राक्षसों का विनाश करवा सकते थे, और स्वयं सुख-चैन से प्रासादों में रह कर राज्य करते, पर पिशाचों के दलन के लिए भी उन्होंने इस पैशाचिक मार्ग का अवलंबन नहीं किया। राजदंड को उन्होंने कदापि बलप्रयोग का प्रतीक नहीं बनाया। दुर्दान्त राक्षसों की बाढ़ के बावजूद वे कोई बड़ी भारी सेना लेकर बन में नहीं गए। वे बिना सेना और शस्त्रास्त्रों के वन में गए और जन-साधारण के न्याय और नैतिक संघर्ष के मानवीय मूल्यों की आस्था को जाग्रत करके ही उन्होंने जन-सहयोग प्राप्त करने का व्यापक प्रयत्न किया। संसार के इतिहास में अपने ढंग का यह एकमात्र उदाहरण है।

पर इस प्रयत्न की सफलता के लिए यह आवश्यक था कि पहले राम स्वयं जनता की निगाह में इस सहयोग और विश्वास के पात्र बनते। वे स्वयं अपने-आपको एक श्रेष्ठ वीर और मर्यादामय उत्तम पुरुष साबित करते। जहां तक शारीरिक बल-पराक्रम का सम्बन्ध है, जनकराज की स्वयंवर सभा में शिव के विशाल धनुष को भंग कर उन्होंने वीरत्व का सिक्का जमा दिया पर अब उन्हें इससे भी बड़ी जिस परीक्षा में उत्तीर्ण होना था, वह थी व्यक्ति, परिवार और समाज निहित श्रेष्ठता और मर्यादा की परीक्षा। इसका आरम्भ उस दिन हुआ, जब कैकेयी ने दशरथ द्वारा दिए गए वचन के अनुसार भरत को राज्य और राम को 14 वर्ष के बनवास का वरदान मांगा। इससे राजा दशरथ को अवश्य बड़ा क्षोभ और मानसिक क्लेश हुआ पर राम तनिक भी विचलित नहीं हुए। राजत्व की महत्वा-कांक्षा को उन्होंने माता-पिता के प्रति पुत्र के पवित्र कर्तव्य पर थोड़ा भी हावी नहीं होने दिया। अधिकार से बढ़कर उनके सामने अपने सीमित कर्तव्य और व्यापक दायित्व का प्रश्न था पर इससे भी कहीं अधिक बढ़कर उनके सामने था, राज-धर्म का प्रश्न। यदि राम दशरथ को मोहवश अपना वचन पूरा नहीं करने देते और जेठे होने के नाते अधिकार जता कर स्वयं राज्य ले लेते, तो इसके न जाने कितने और कैसे-कैसे दुष्परिणाम और प्रतिकूल प्रतिक्रियाएं होतीं? जनता के मन में उनके प्रति क्या भाव होते? क्या वह उन्हें आदर्श नरेश या मर्यादा-पुरुषोत्तम मानती? उसके मन में सैन्य या अधिकार-बल से गद्दी पर बैठने वाले राजा राम के प्रति कोई आदर या आस्था होती? न उस हालत में राम के प्रति भरत, लक्ष्मण, और शत्रुघ्न का ही वह प्रेम और आदर होता, जो उनके माता-पिता की आज्ञा मानकर सहर्ष वन-गमन करने और राज्य को ठुकरा देने के कारण हुआ। कदाचित यह राम की चरम कर्तव्य परायणता का ही परिणाम था कि भरत ने भी अपनी मां की मोहान्धता से मिलने वाले राज्य को स्वीकार नहीं किया और राम की अनुपस्थिति में राम की चरण-पादुकाओं को उनका प्रतीक मान स्वयं राम के प्रतिनिधि एक ट्रस्टी की हैसियत से ही राज-काज चलाया।

इसी प्रकार राम के वन-गमन की कथा भी उनके आदर्श के एक-दूसरे पक्ष को उजागर करती है। शिकार के लिए उनके पूर्ववर्ती राजा महाराजा भले ही जंगलों में जाते रहे हों और वह भी सुरक्षा की पूरी तैयारी के साथ, पर राम सम्भवत: पहले राजा थे, जो पत्नी और अनुज के साथ पैदल, जन-सम्पर्क बढ़ाते हुए, पशु-पक्षियों तथा लता-वृक्षों तक से बतियाते हुए, बिना किसी भेद-भाव के सबसे मिलते और सबका आतिथ्य ग्रहण करते तथा साथ ही राक्षसों के आतंक को दूर भी करते हुए 14 वर्षों तक जंगलों में विचरते रहे। दण्डकारण्य में जहां वे वन-श्री विलोक कर मन्त्र-मुग्ध हो गए, वहां वन–वासियों की कुटियों पर अनामंत्रित अतिथियों के रूप में भी जा धमके और उन्हीं के भोजन-छाजन से काम चलाया। शबरी के जूठे बेर खा कर तो उन्होंने अपने सहज आचरण से यह सिद्ध कर दिया कि वे राजस्वी होकर भी नीच-ऊंच, अमीर-गरीब, या और किसी भी तरह के भेद-भाव को नहीं मानते थे। यही कारण था कि पूरी भक्ति, निष्ठा और वफादारी के साथ जटायु-सुग्रीव, हनुमान और असंख्य वानर तथा बाद में विभीषण तक उनकी सेवा-सहायता के लिए आ जुटे। यह न तो कोई वेतन-भोगी सैनिकों की सेना थी, और न इसके पास कोई व्यापक नर-संहार के मारक शस्त्रास्त्र ही थे।

राक्षसों के अत्याचारों ने राम को जिस धर्म-युद्ध के लिए मजबूर किया, उसमें भी राम ने अपनी मानवता नहीं छोड़ी। यदि वे चाहते तो रावण की पराजय के बाद उसके सम्पूर्ण राज्य को अपने राज्य में मिलाकर चक्रवर्ती सम्राट बन सकते थे पर राम ऐसे मानस या भावना के बने ही न थे। अन्यान्य राजाओं की तरह आक्रमण, अपहरण, अन्याय और प्रतिशोध की राजनीति उनकी थी ही नहीं। उन्होंने कार्यत: यह दिखा दिया कि विजित को अपमानित या ज़लील करना उनकी राजनीति में नहीं है। अपने साथ हुए द्वन्द्व-युद्ध में जब रावण मारा गया, तो राम ने सम्मानपूर्वक उसकी अन्त्येष्टि-क्रिया करवाई और उसके विधि-सम्मत उत्तराधिकारी विभीषण को ही उसके स्थान पर लंकाधिपति बनाया।

इस प्रकार लोक-बल और धर्म-बल के आधार पर अपना राजकर्म करते हुए जब राम अयोध्या लौटे, तो जैसे राम-राज्य के रूप में एक नया ही युग आरम्भ हुआ। राम-राज्य की छत्रछाया में चारों ओर मंगल छा गया :

भरे भाग अनुराग लोग कहें, राम कृपा चितवन चितई है ।।
बिनती सुनि सानंद हेरि हंसि, करुना बारि भूमि भिजई है ।।
रामराज भयो काज सगुन सुभ, राजा राम जगत बिजई है ।।
समरथ बड़ो सुजान सुसाहिब, सुकृत-सेन हारत जितई है ।।

अर्थात् राम इसलिए जगत-विजयी कहलाए कि जब सुकृत की सेना हारने लगी और अधर्म की सेना प्रबल हो उठी, तो उन **'बड़े समर्थ सुजान सुसाहब'**

ने हारती हुई सुकृत-सेना को जिताया। इसके बाद जिस राम-राज्य की स्थापना हुई, उसे तुलसीदासजी ने 'सुराज्य' अथवा 'धर्म-राज्य' कहा है। इसकी स्थापना केवल भू-भाग पर या नागरिकों की देहों पर ही नहीं, उनके हृदयों पर हुई, जिसके फलस्वरूप:

बयरु न कर काहू सन कोई। राम प्रताप विषमता खोई ।।
सब नर करहिं परसपर प्रीती। चलहिं स्वधर्म निरत श्रुति नीती ।।

इतना ही नहीं:

फूलहिं फलहिं सदा तरु कानन। रहहिं एक संग गज पंचानन ।।
खग मृग सहज बयरु बिसराई। सबन्हि परसपर प्रीति बढ़ाई ।।

जब राजा में शील, सहृदयता, शालीनता, प्रेम, सच्चरित्रता और न्याय-परायणता की पराकाष्ठा हो, तब प्रजा-जनों के हृदयों की सुन्दर वृत्तियों का पूर्ण विकास होना भी स्वाभाविक है। यदि प्रजा को तनिक भी दु:ख-कष्ट हो, तो राजा भी दण्ड से बच नहीं सका :

जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी। सो नृप अवसि नरक अधिकारी ।।

इतना ही नहीं, राजा के वैयक्तिक और पारिवारिक जीवन को देखने और उस पर टीका-टिप्पणी करने की खुली स्वतन्त्रता भी प्रजा को थी। तभी तो जिस सती सीता के चरित्र के बारे में स्वयं राम या उनके कुटुम्ब-परिजनों में से किसी को भी तनिक सन्देह न था, उसके बारे में एक नगण्य धोबी के शंका करने पर ही राम ने उन्हें अग्नि-परीक्षा के लिए बन भेज दिया। इससे पता चलता है कि राम के राज में लोकमत की कितनी कद्र थी और एक धोबी का भी समाज में कितना सम्माननीय स्थान था।

हर व्यक्ति को अपने धर्म-विश्वास और उपासना की पूरी स्वतन्त्रता थी। विश्व-बन्धुत्व और मनुष्य के अपने पड़ोसी के प्रति कर्तव्य पर तुलसीदासजी ने बड़े मार्मिक रूप से बल दिया है।

संक्षेप में यह था, राम-राज्य का राजनीतिक आदर्श, जिसने राष्ट्रपिता बापूजी को भी अभिभूत किया था। बापूजी के हिन्द-स्वराज्य की कल्पना का आधार यही राम-राज्य था। इससे श्रेष्ठ राज्य या शासन की और कोई कल्पना भी क्या कर सकता है?

राम-राज्य का आदर्श—दो

(सामाजिक)

इस क्रम की पहली वार्ता में हम राम-राज्य के आदर्श के राजनीतिक पक्ष की चर्चा कर चुके हैं। आज हम उसके सामाजिक पक्ष पर कुछ कहेंगे।

मसल मशहूर है कि 'यथा राजा, तथा प्रजा'। इसमें हमारे देश की परम्परा का एक गूढ़ रहस्य छिपा हुआ है। वह यह कि राजा का आचरण और व्यवहार, उसके कर्म, धर्म और जीवन-मूल्य प्रजा के लिए एक आदर्श और उदाहरण का काम करते हैं। इसीलिए राज्य-व्यवस्था को सत्य, धर्म और न्याय के अनुरूप चलाने के लिए, जहां राजा सुयोग्य आमात्यों और अधिकारियों को नियुक्त करता था, वहां स्वयं उसे सत्य, धर्म और न्याय के पथ पर चलाने और बनाए रखने के लिए तपःपूत ऋषि मुनियों को उसकी राज सभा में उच्च और पूजनीय स्थान प्राप्त था। राजा दशरथ की सभा की शोभा बढ़ाते थे महामुनि वशिष्ठ, वामदेव, सुयज्ञ, जाबालि, कश्यप, गौतम, मार्कण्डेय, कात्यायन, धृष्टि, जयन्त, विजय, सुराष्ट्र, राष्ट्रवर्धन, अकोप, धर्मपाल आदि और यही हाल राजा जनक की सभा का भी था। तब राजा किसी के द्वारा चुना नहीं जाता था किन्तु इन नीतिज्ञ, विरक्त, तेजस्वी और चरित्रवान सलाहकारों के कारण वह सत्य और न्याय से कभी भी विमुख नहीं हो सकता था।

राम-राज्य के सामाजिक आदर्श को परखने के लिए पहले हमें उसकी स्थापना के पूर्व के समाज की स्थिति का विहंगावलोकन करना होगा और फिर उसके समय की स्थिति का। राम-राज्य की स्थापना के पूर्व की जो स्थिति 'राम चरितमानस' में वर्णित है, वह कहां तक ऐतिहासिक तथ्य है, और कहां तक उसमें कवि कल्पना का पुट है, इसका नीर क्षीर विवेक आज संभव नहीं। कुछ समीक्षक उसे तुलसीदासजी के अपने समय की स्थिति का ही परोक्ष में प्रतिबिंबित रूप मानते हैं। इसमें कुछ सचाई हो सकती है। स्वयं तुलसीदास पैदा होते ही माता-पिता द्वारा त्याग दिए गए थे। उनका बचपन बड़े कष्ट में बीता। उनका भरण-भोषण और शिक्षण देश में एक स्थान से दूसरे स्थान पर घूमने वाली साधुओं की टोलियों में ही हुआ। उन्होंने देखा कि विदेशी शासन, शोषण और पीड़न के फलस्वरूप जन-

साधारण अपने धर्म और संस्कृति से विमुख हो रहा था। समाज—व्यवस्था की रीढ़ टट सी गई थी और उसका स्थान ऊंच-नीच के भेदभाव तथा फूट ने ले लिया था। सब धर्मों की एकता की दुहाई ज़रूर दी जाती थी पर लोग अपना धर्म संस्कार भी भूलते जा रहे थे। अनास्था और नास्तिकता के रूप में अधर्म बढ़ रहा था। इससे तुलसीदासजी भला अप्रभावित कैसे रह सकते थे। इसीलिए जब सूकर क्षेत्र में उन्होंने गुरु से राम कथा सुनी, तो जैसे उन्हें एक मार्ग दिखाई दिया। उनके मन में तत्कालीन स्थिति से ऐसा बिराग उत्पन्न हुआ कि वे, अधीर एवं उद्विग्न से हो उठे और दीर्घकाल तक इधर-उधर घूमते रमते रहे। मलीहाबाद, चित्रकूट, नेमिषारण्य,बिठूर, राजापुर, काशी, वृन्दावन, अयोध्या, जगन्नाथपुरी, रामेश्वरम्, द्वारावती आदि की यात्राएं कर उन्होंने देश और समाज की स्थिति को भली भांति देखा, समझा और इसे सुधारने के विचार से ही उन्होंने सबके हित के लिये रामचरितमानस की रचना का संकल्प किया।

समाज के इसी परिवेश को रूपान्तर में उन्होंने राम काज के पहले की, असुरों एवं राक्षसों से उत्पीड़ित समाज के अव्यवस्था की पृष्ठभूमि बनाया। उन्होंने अपने कल्प मानस पर एक चित्र खींचा कि जब स्वार्थांधता और अनुशासनहीनता से समाज में अव्यवस्था हो, अन्याय और अनाचार का बोलबाला हो, जनसाधारण में धर्म, सत्य और न्याय की भावना शिथिल हो गई हो, घर और परिवार का जीवन जब झूठे कलह कोलाहल से नरक तुल्य हो गया हो, माता, पिता, पुत्र, भाई पत्नी, सेवक सखा आदि अपने कर्तव्यों एवं आदर्शों से च्युत हो गए हों, तब समाज की कैसी दुरव्यवस्था हो सकती है और फिर उसे सुधारने, उठाने तथा पुनरुज्जीवित करने के लिए क्या कुछ किया जा सकता है। इसीलिए जहां उन्होंने दुष्ट-दलन के लिए राजा को विष्णु का अवतार बताया,वहां उसे किसी राजसी ठाटबाट या विशेषाधिकारों से मंडित न कर एक तापस, समाज के एक प्रमुख, किन्तु सामान्य सेवक के कर्तव्य बोध से ही मंडित किया। यही था राजा राम का असली कार्य, जिसमें वे आजीवन लगे रहे।

समाज की सेवा और कल्याण केवल राम से-आरम्भ हुए हों, ऐसी बात नहीं है। यह आदर्श तो जैसे उनकी वंश परम्परा का एक अविच्छिन्न सूत्र था। उनके पूर्व पुरुषों में अंशुमान ने गंगा को पृथ्वी पर लाने के लिए आजीवन कठोर तप किया था। उनके पुत्र दिलीप ने इसे जारी रखा किन्तु गंगा को यथार्थ में पृथ्वी पर लाने का श्रेय मिला दिलीप के पुत्र भागीरथ को ही। इनके पुत्र खट्वांग, उनके पुत्र दीर्घबाहु, उनके पुत्र रघु, उनके पुत्र अज और फिर उनके पुत्र दशरथ प्रजावत्सलता में किसी से भी कम नहीं थे। हां उनके समय में समाज की भीतरी विशृंखलता और बाहरी अशांति उपद्रव शायद इस सीमा तक नहीं पहुंचे थे,

जिस सीमा तक कि राजा दशरथ के समय में। इसीलिए जब एक दिन दशरथ की राजसभा में विश्वामित्र ने समाज पर आए संकटों की कथा उन्हें सुनाई, तो बिना किसी झिझक या संकोच के दशरथ ने उनके निराकरण के लिए राम और लक्ष्मण को उनके सुपुर्द कर दिया। इसके बाद राम का जो आचरण रहा, वह बाल्मीकि के शब्दों में "रामः सत्पुरुषो लोके, सत्यः धर्म, परायणः" अर्थात् सत्पुरुष राम ने इस लोक में सत्य और धर्म परायणता की मर्यादा बांधी।

इसके विपरीत रावण और उसके सगे सम्बन्धियों की सामाजिक स्थिति भी जान लेना आवश्यक है। रावण के पिता **विश्रवा** कर्मकांड और वेदों के महापंडित थे। कनक पर्वत सुमेरु पर उनका आवास था। उसे हड़पने के विचार से असुरों ने एक दिन आसुरी कन्या पुष्पोत्कट को उन्हें डिगाने के लिए भेजा। सहज स्वभाव से विश्रवा इस जाल में फंस गए। उस आसुरी बधू से उनके तीन पुत्र हुए, रावण, कुंभकर्ण और विभीषण तथा एक कन्या शूर्पनखा। इनमें रावण बल-पराक्रम में सबसे बढ़-चढ़ कर था। फलतः वह उपद्रव, अशांति और पर-पीड़न का प्रतीक बन गया। अपने सौतेले भाई कुवेर तक से उसने सोने की लंका और पुष्पक विमान छीन लिए। वह शिव का बड़ा भक्त था। पर एक बार जब उसने कैलाश धाम की ओर पग बढ़ाया, तो शिव के एक प्रहरी ने उसे रोक दिया। इससे कुपित होकर उसने कैलाश को ही अपने हाथों पर अर्धार हो उठा लिया। इस पर शिव ने उसे अखंड बल का वरदान दिया था पर इससे रावण की दुष्टता और समाज विरोधिता घटने के बजाय और भी बढ़ी।

शिव के भक्तों में रावण अग्रणी था। कहते हैं कि एक बार उसने उनकी आराधना करते-करते फूलों का एक बहुत बड़ा ढेर लगा दिया। उन फलों से एक बहुत ही सुन्दर कन्या उत्पन्न हुई, जिसे उसने पालन-पोषण के लिए मन्दोदरी को सौंप दिया। भविष्य द्रष्टा नारद ने मंदोदरी को बता दिया था, कि वह कन्या रावण के लिए काल रूपा है। उधर ज्यों-ज्यों वह बड़ी होने लगी, रावण की दृष्टि भी उसकी ओर संदिग्ध होने लगी। इस दोहरे डर से आशंकित हो मन्दोदरी ने उसे सोने के एक घड़े में बन्द कर समुद्र पार किसी दूर के खेत में गड़वा दिया। कहते हैं कि जब राजा जनक खेत जोत रहे थे, तो उन्हें यह घड़ा मिला और उन्होंने भूमिजा समझ कर इस कन्या का नाम सीता रखा। बाद में जब रावण को इस रहस्य का पता चला, तो उसने पहले तो स्वयंवर में शिव का धनुष तोड़कर सौंदर्य और गुणों की खान सीता को प्राप्त करना चाहा और उसमें विफल होने पर उनका अपहरण किया। अशोक वाटिका में उसने सीता को क्या-क्या प्रताड़नाएं और प्रलोभन नहीं दिए, पर वह तनिक भी अपने पतिव्रत धर्म से इधर से उधर नहीं हुई। इससे तत्कालीन समाज में नारी की स्थिति पर काफी प्रकाश पड़ता है। राम का उस सीता से

विवाह करना, जिसके माता-पिता का कुछ भी पता न था और फिर लक्ष्मण का सीता को छोड़ कर राम की खोज में जाने, पर, उनसे राम का यह कहना कि उन्हें सीता को अकेला छोड़ कर नहीं जाना चाहिए था, उस समय के समाज के उजले और काले दोनों पक्षों को प्रकट करता है।

केवल रावण ही क्यों, समूची आसुरी सन्तान के उपद्रवों और अत्याचारों से तत्कालीन समाज त्राहि-त्राहि कर रहा था। जब रावण ने देवलोक पर आक्रमण किया, तब सबने भीत त्रस्त होकर ब्रह्माजी से उपाय पूछा। राम का अवतार और कर्म-धर्म इसी का उत्तर था, पर इसके बावजूद 'राम-चरितमानस" में उनके सारे कार्यकलाप को सहज मानवीय रूप में ही चित्रित किया गया है। परोक्ष में ये सारे कार्य तत्कालीन सामाजिक आदर्शों के ही प्रतीक हैं। सबसे पहले दशरथ ही को लें। उन्होंने बड़ी उम्र में पुत्रेष्टि—यज्ञ के द्वारा पुत्रों का मुंह देखा था, फिर भी जब कैकेयी ने मन्थरा के बहकावे पर उनसे राम के बनवास और भरत को राज देने के वरदान मांगे, तो वे मानो विष का घूंट पीकर रह गए। उनके सामने एक ही मार्ग था :

> **रघुकुल रीति सदा चलि आई।**
> **प्रान जाहिं, बरु बचन न जाई॥**

और सचमुच अपने वचन पूरे करने के लिए ही उन्हें अपने प्राण दे देने पड़े, पर राम के प्रति उनका स्नेह कभी कम न हुआ। कहते हैं कि रावण-विजय के बाद जब राम अयोध्या लौटे और उनके राज्य में प्रजा को सब तरह की सुख समृद्धि का लाभ मिला, तो दशरथ देवलोक से स्वयं उसे देखने आए। उनकी यह अप्रतिम पुत्र-भक्ति सिद्ध करती है कि सच्चे, प्रजावत्सल तथा धर्म और न्याय के पथ पर चलने वाले शासक के प्रति गुरुजन तक कितना आदर और श्रद्धा रखते थे। इसका तत्कालीन समाज पर कैसा प्रभाव पड़ता था, यह बताने की आवश्यकता नहीं।

अब माताओं का सम्बन्ध भी देखिए। कौशल्या तो जानती थीं, कि राम अवतार हैं तथा पूर्व जन्म में पुण्यों के प्रताप से उनकी कोख से जन्मे हैं, पर कैकेयी उनकी सगी मां न होने पर भी उन्हें प्राण से अधिक प्रिय मानती थीं। जब मन्थरा का कुप्रभाव उनके मन पर से हटा और उन्होंने देखा कि राम के वन-गमन से न केवल राज परिवार में, बल्कि सारे राज्य में क्षोभ और विषाद छा गया है, तो वे अपने राम-द्रोह के कारण बड़ी दुखित हुईं और इस आग में आजीवन कुढ़ती झुलसती रहीं। दूसरी ओर जब तीनों माताएं राम से मिलने चित्रकूट गईं, तो '**प्रथम राम भेंटी कैकेई**' ताकि उन्हें कभी भी यह

भ्रम न हो कि राम उनसे तनिक भी रुष्ट या असन्तुष्ट हैं। यही नहीं, जब वे अयोध्या लौटे, तो सबसे पहले 'कैकेइ कहे पुनि पुनि मिले' राम के प्रति सुमित्रा की भावना तो और भी श्लाघ्य थी :

पुत्रवती जुबती जग सोई । रघुपति भगतु जासु सुत होई ।।
नतरु बांझ भलि बादि बिआनी । राम बिमुख सुत तें हित हानी ।।

इसलिए जब लक्ष्मण राम सीता के साथ बन जाने के लिए आज्ञा लेने आए तो सुमित्रा ने कहा :

सकल सुकृत कर बड़ फल एहू । राम सीय पद सहज सनेहू ।।

अब भाइयों के सम्बन्ध देखिए । लक्ष्मण द्वारा राम सीता के साथ वन जाने की ज़िद करने के सम्बन्ध में कवि ने कहा है :

बारेहिं ते निज हित पति जानी । लछिमन राम चरन रति मानी ।।
मोरें सबइ एक तुम स्वामी । दीनबंधु उर अंतरजामी ।।

और ऐसे सहोदर के प्रति अग्रज राम का क्या भाव था, वह लक्ष्मण के शक्ति—बाण लगने के समय निकले इन उद्‌गारों से स्पष्ट है :

सकहु न दुखित देखि मोहि काऊ । बंधु सदा तव मृदुल सुभाऊ ।।
मम हित लागि तजेउ पितु माता । सहेहु बिपिन हिम आतप बाता ।।
सुत बित नारि भवन परिवारा । होहिं जाहिं जग बारहिं बारा ।।
अस बिचारि जिय जागहु ताता । मिलइ न जगत सहोदर भ्राता ।।

और केवल लक्ष्मण का ही नहीं, इस समय उन्हें उनकी माता सुमित्रा का भी ध्यान आया :

निज जननी के एक कुमारा । तात तासु तुम प्रान अधारा ।।
सौंपेसि मोहि तुम्हहिं गहि पानी । सब बिधि सुखद परम हित जानी ।।
उतरु काह दैहउं तेहि जाई । उठि किन मोहि सिखावहु भाई ।।

लक्ष्मण की तरह ही भरत और शत्रुघ्न ने भी सदा अपने आपको राम का सेवक ही माना :

भरत सत्रुहन दूनउ भाई । प्रभु सेवक जसि प्रीति बढ़ाई ।।

यही कारण था कि जब भरत की मां कैकेयी ने राम के लिए बनवास और भरत के लिए राज मांग लिया, तब भी भरत ने अपने आपको राज का अधिकारी नहीं माना। जब राम ने उन्हें समझाया कि वे राज काज सम्हाल

कर पिता की आज्ञा मानने में उनके सहायक बनें, तब उन्होंने राम के आदेश को शिरोधार्य कर उनके सेवक के नाते उनकी पादुकाओं को राजसिंहासन पर रख कर ही इस दायित्व को एक तटस्थ ट्रस्टी की हैसियत से सम्हाला। इस पर सन्तुष्ट हो, जब राम पैदल ही वन की ओर चले और सेवकों ने भरत से अयोध्या लौटने के लिए सुसज्जित रथों, घोड़ों तथा हाथियों की ओर संकेत किया, तो भरत ने कहा :

रामु पयादेहि पायं सिधाए । हम कहं रथ गज बाजि बताए ।।

इतना ही नहीं, उन्होंने कभी कोई राजसी सुख भी नहीं भोगा :

लखन राम सिय कानन बसहीं । भरत भवन बसि तप तनु कसहीं ।।
दोउ दिसि समुझि कहत सब लोगू । सब विधि भरत सराहन जोगू ।।
तेहिं पुर भरत बसहिं बिन रागा । चंचरीक जिमि चंपक बागा ।।

जब हनुमान से उन्हें पता चला कि राम की सेवा में लक्ष्मण शक्ति --बाण लगने से मूच्छित हो गए हैं, तो भरत को अपने बारे में बड़ी ग्लानि हुई।

अहह देव मैं कत जग जाएउं । प्रभु के एकउ काज न आएउं ।

इसी प्रकार पत्नी के रूप में सीता का आदर्श तो संसार भर में अपना सानी नहीं रखता। यद्यपि वे राम की परम शक्ति थीं पर स्वयं उन्होंने यही माना कि :

प्रान नाथ तुम्ह बिनु जग माहीं । मो कहं सुखद कतहुं कछु नाहीं ।।

अपहरण के बाद जब रावण ने उन्हें अशोक–वन में बंदिनी बना दिया और तरह-तरह के त्रास उत्पीड़न दिए, तब भी

जेहि बिधि कपट कुरंग संग, धाइ चले श्रीराम ।
सो छबि सीता राखि उर, रटति रहति हरि नाम ।।

राम के लंका से लौटने पर हनुमानजी ने जानकी की दशा का वर्णन इस प्रकार किया :

नाम पाहरू दिवस निसि, ध्यान तुम्हार कपाट ।
लोचन निज पद जंत्रित, प्रान जाहिं केहि बाट ।।

यहां तक तो हमने कुटुम्ब परिजनों के आपसी व्यवहार की चर्चा की है। गुरुजनों और प्रजा-जनों के प्रति भी उनका व्यवहार कम महत्व का नहीं था। वशिष्ठ, विश्वामित्र, भरद्वाज, अत्रि, वाल्मीकि, शर्भंग, सुतीक्ष्ण, अगस्त्य आदि मुनियों के प्रति उनका व्यवहार कभी भी एक राजपुत्र, राजा या अवतार

का नहीं रहा । बल्कि इन सबके प्रति वे सदा एक विनम्र सेवक और शिष्य की तरह ही आचरण करते रहे ? इसी कारण ऋषि मुनि भी उनसे अत्यधिक प्रसन्न एवं सन्तुष्ट थे। जब राम भरद्वाज मुनि के आश्रम में गए, तो उन्हें देख कर उन्होंने कहा :

आजु सुफल तप तीरथ त्याग । आज सुफल जप जोग बिरागू ।।
लाभ अवधि सुख अवधि न दूजी । तुम्हरें दरस आस सब पूजी ।।

प्रजा-जनों के प्रति भी उनका व्यवहार आत्मीय जनों से कम स्नेह और अपनत्व का न था । इसीलिए अयोध्यावासियों का कहना था :

राम लखन सिय बिनु सुख नाहीं ।

जनकपुर तो राम केवल दो बार ही गए थे। फिर भी वहां के लोग उन्हें अयोध्यावासियों से कम नहीं चाहते थे। यही नहीं, जहां वे पहले कभी नहीं गए, उन नगरों, ग्रामों और वनों की जनता ने भी उन्हें देखते ही सिर आंखों पर उठा लिया और उनके लिए सर्वस्व अर्पण करने को तैयार हो गए । कोल, भिल्ल, निषाद और वानर आदि उस समय हीन दृष्टि से देखे जाते थे, पर राम ने इन्हें गले लगा कर मानों इनका सारा सामाजिक कलंक धो दिया । गुरु वशिष्ठ से इनका परिचय कराते हुए राम ने कहा :

ये सब सखा सुनहु मुनि मेरे । भये समर सागर कहं बेरे ।।

वानरों, भालुओं तथा अन्यान्य पशु-पक्षियों को उन्होंने सम्भवतः संसार के इतिहास में पहली बार मानवीय मर्यादा और सामाजिक प्रतिष्ठा प्रदान की । सीता के अपहरण को रोकने के प्रयत्न में जटायु के प्राणोत्सर्ग पर उन्होंने जो मर्म वेदना प्रकट की और जिस भावना से उसका अन्त्येष्टि-संस्कार किया, उसकी मिसाल और कहां है ?

इसी सुजनोचित व्यवहार का परिचय उन्होंने राक्षसों के साथ भी दिया, जिसका एक सुखद परिणाम यह हुआ कि **जिये भालु कपि नहिं रजनीचर** क्योंकि **रामाकार भये तिन्हके मन** । अगर इसे हृदय परिवर्तन मानें, तो इसका एकमात्र श्रेय राम के सद्व्यवहार को ही है। इसी लिए उन्होंने उस समय के समाज को यह अभय मन्त्र दिया था।

सुमिरेहु मोहिं, डरपेहु जनि काहू ।

इसका एक दूसरा पक्ष भी है। राम-भक्त क्यों किसी से नहीं डरता था इसका मूल तथ्य यह था :

निज प्रभुमय देखहिं जगत, का सन करहिं विरोध ।

यही कारण था कि जब राम ने राष्ट्र-काज सम्पन्न करने के बाद राज काज सम्हाला, तो :

राम राज बैठे त्रैलोका । हरषित भए गए सब सोका ।।
बयरु न कर काहू सन कोई । राम प्रताप विषमता खोई ।।

× × × ×

दैहिक दैविक भौतिक तापा । राम राज नहिं काहुहिं ब्यापा ।।
सब नर करहिं परसपर प्रीती । चलहिं स्वधर्म निरत श्रुति नीती ।।
नहिं दरिद्र कोउ दुखी न दीना । नहिं कोउ अबुध न लच्छन हीना ।।
सब निर्दंभ धर्मरत पुनी । नर अरु नारि चतुर सब गुनी ।।
सब गुनग्य पंडित सब ग्यानी । सब कृतग्य नहिं कपट सयानी ।।
सब उदार सब परउपकारी । बिप्र चरन सेवक नर नारी ।।
एक नारि ब्रत रत सब झारी । ते मन बच क्रम पति हितकारी ।।

इस तरह राम ने अपने मन, वचन और आचरण द्वारा समाज का जो आदर्श जनसाधारण के सामने रखा, वह न केवल जन-जीवन का ही वरदान बना वरन युग-युग का सत्य बन गया और आज भी हम उससे प्रेरणा पाते हैं।

राम-राज्य का आदर्श—तीन

(नैतिक)

इस क्रम की पहली दो वार्ताओं में हम राम-राज्य के आदर्श के राजनीतिक और सामाजिक पक्षों पर प्रकाश डाल चुके हैं। आज हम उसके नैतिक पक्ष की चर्चा करेंगे।

सच पूछा जाए, तो किसी भी काल में किसी भी राज्य, राजा या प्रजा के जीवन, समाज और राजनीति से पृथक् कोई स्वतन्त्र नैतिक पक्ष नहीं होता, वरन् इन सब की जड़ में, छोटे से लेकर बड़े व्यक्ति के जीवन व्यापार में इसकी प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष विद्यमानता दृष्टिगोचर होती है। राम-राज्य का तो जैसे मूल मन्त्र ही यह था कि प्रत्येक नागरिक का जीवन—व्यवहार सर्वथा, सत्य, न्याय और नैतिकता पर आधारित हो, यही थी नीति, जिसे 'धर्म' भी कहा गया है। इसी लिए राम-राज्य की नैतिकता किसी वर्ग, जाति या मत विशेष के लोगों के लिए सीमित न होकर समग्र जन-जीवन का एक सामान्य धर्म बन गई थी।

और यह व्यापक धर्म अकेले तुलसीदासजी की देन नहीं है। राम के आदर्श को न जाने कब से भारतीय जन-जीवन की एक स्वस्थ और आदर्श परम्परा के रूप में स्थान मिलता आया है। 'वृहदधर्म पुराण' के अनुसार तो राम-कथा को ही समस्त काव्यों, इतिहास, पुराण आदि का मूल स्रोत माना गया है।

व्यास की ग्रध्यात्म रामायण तथा बाल्मीकि की रामायण के ग्रतिरिक्त कालिदास के 'रघुवंश', प्रवरसेन के 'सेतुबंध', भट्टि के 'रावणवध,' कुमारदास के 'जानकीहरण,' ग्रभिनन्द के 'रामचरित,' भास के 'प्रतिमा', ग्रौर 'ग्रभिषेक,' भवभूति के 'महावीर चरित' ग्रौर 'उत्तर रामचरित,' हरिनाम की 'कुन्दमाला,' मुरारि के 'ग्रनर्घराघव,' राजशेखर की 'बालरामायण,' जयदेव [यह जयदेव 'गीत गोविंद' के रचयिता नहीं, वरन् 12वीं शताब्दी से पूर्व हुए जयदेव ('पीयूषवर्ष') थे, जिनके दो ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं 'चन्द्रालोक' (ग्रलंकार-ग्रन्थ) और राम-सम्बन्धी 'प्रसन्नराघव'] के 'प्रसन्नराघव,' ग्रादि राम के विविध ग्रादर्श को लेकर ही रचे गए हैं।

इससे सिद्ध है कि सुदीर्घ काल से नीति और धर्म के रक्षक के रूप में राम भारतीय जन जीवन के एक अविभाज्य अंग रहे हैं और किम्बहुना आज भी हैं। इसी कथा के नवनीत को नानापुराण निगमागम से अपनी रुचि तथा आस्था के अनुरूप बना कर तुलसीदासजी ने 'रामचरित मानस' के रूप में प्रस्तुत किया। उन्होंने कहा भी है :

बरनहु रघुबर जस बिमल स्रुति सिद्धांत निचोर ।

तो ये श्रुति सिद्धान्त क्या थे? यह भारत की नैतिक और धार्मिक परम्परा का वही अविरल स्रोत है, जो गीता, महाभारत के युग से लेकर गांधी जी के युग तक अव्याहत गति से चला आ रहा है। इसी प्रकार उन्होंने मनुष्य मात्र को भी सर्व शक्तिमान और सब सद्‌गुणों की खान ईश्वर का ही एक अंश माना :

ईस्वर अंस जीव अबिनासी । चेतन अमल सहज सुखरासी ।।

प्रकारान्तर से यह इस श्रुति सिद्धान्त की ही स्वीकृति थी :

आहार निद्रा भय मैथुनं च, सामान्यमेतदपशुभिर्नराणाम् ।।
धर्मोहि तेषामधिको विशेषो, धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः ।।

अर्थात् आहार, निद्रा, भय, मैथुन आदि तो मानव और पशु में समान हैं। मानव में यदि कुछ विशेष है, तो यह है धर्म। बिना धर्म के मनुष्य पशु के समान है। नीतिकारों ने मानव के इसी धर्म को 'नीति' कहा है और इसी के आधार पर जीवों की 84 लाख योनियों में मनुष्य को श्रेष्ठ बतलाया है। और पशु से भिन्न तथा श्रेष्ठ मानव का यह धर्म अथवा नीति ही मानव की सांस्कृतिक परम्परा की एक अद्‌भुत थाती है। इसका राजा और प्रजा दोनों के लिए श्रुतियों में स्पष्ट उल्लेख है। वेदों में राजा के लक्षण को इस प्रकार बताया गया है।

'प्रजा को राज्य-संचालन के लिए एक सभाध्यक्ष यानी राजा चुनना चाहिए। वह ऐसा व्यक्ति हो, जो देश के ऐश्वर्य को बढ़ानेवाला, पक्षपात-रहित, न्याय, धर्म और विद्या का प्रकाशक, अन्याय को रोकने वाला, दुष्टों को दण्ड देने वाला, विद्या-विनय-युक्त, जितेंद्रिय और संयमी होना चाहिए।'

कहना न होगा कि तुलसी के राम राजा के इन सारे परम्परागत गुणों से युक्त थे। ये गुण ही उनके व्यक्तित्व और राजत्व के सुदृढ़ नैतिक आधार थे। ऐसा राजा राज-काज कैसे चलाए, इस सम्बन्ध में भी वेदों में कहा गया है कि **'जितने भी मनुष्य राजकार्य की सिद्धि के लिए रखे जाएं, वे सब**

आलस्य-रहित, बलवान, सदाचारी तथा देशभक्त हों।' ये सारे गुण नीतिज्ञ राम के सभी सहयोगियों में थे और इसीलिए न्याय तथा नीति की दृष्टि से उनका राज-काज इतिहास में अपना जोड़ नहीं रखता

किन्तु राम-राज्य का नैतिक पक्ष मानवीय आदर्श और मर्यादा के उस चरम उत्कर्ष पर पहुंच गया था कि अधिकांश लोग उसे 'धार्मिक' अथवा 'आध्यात्मिक' संज्ञा देने लगे। यथार्थ में मानव-धर्म का इहलौकिक पक्ष 'नीति' है और पारलौकिक पक्ष 'भक्ति' अथवा 'अध्यात्म'। इसमें कोई असंगति या अतिरंजना नहीं है, क्योंकि मानव धर्म की साधना का अन्तिम लक्ष्य अपना सर्वस्व अपने इष्टदेव अथवा आराध्य के प्रति केन्द्रित और लीन कर देना ही है। उसकी निष्ठा का यह निवेदन ही 'भक्ति' अथवा 'अध्यात्म' कहा जाता है किन्तु है यह हर हालत में उसके अन्तस की उच्चतम भावना का उत्स एवं उद्रेक ही। तुलसीदासजी कवि से पहले भक्त थे, इस बारे में दो मत नहीं हैं किन्तु यदि हम उनके 'मानस' का मननपूर्वक अध्ययन करें, तो भक्ति, अध्यात्म और काव्य-कला के चमत्कार उसमें गौण रह जाते हैं और प्रमुख रूप से उभर उठता है उनके नायक एवं इष्टदेव राम का लोकधर्मी, प्रजावत्सल और अनीति नाशक रूप ही। इसमें न तो कहीं अन्ध भक्ति का लवलेश है और न कहीं अदृष्ट अरूप अध्यात्म की रहस्यपूर्ण साधना ही। लोकहित के प्रतीक के रूप में राम का चरित्र हृदयवाद, बुद्धिवाद, धर्म, अध्यात्म और भक्ति का एक सुन्दर समन्वय है। यदि संकुचित अर्थ में न लिया जाए, तो इसे हम एक ऐसी विशिष्ट नैतिक मर्यादा कह सकते हैं, जो अब तक के सभी धर्मों और चिन्तन मनन के फलस्वरूप प्राप्त मानव की सद्वृत्तियों और सदाचारों का एक सुन्दर समुच्चय है।

पर नैतिक मूल्य-मान्यताओं की सराहना करना, उनको सिद्धान्त रूप में स्वीकार करना जितना आसान है, उतना ही कठिन है उन्हें जीवन में उतारना, मन, वचन और कर्म द्वारा उन्हें निबाहना। राम जैसे समर्थ और लोकप्रिय राजा चाहते, तो उनकी अवहेलना करके भी राजा बने रह सकते थे। उन्हें हिलाने या हटाने वाला कौन था? किन्तु उन्होंने राजसत्ता का उपयोग कभी अपने अधिकारों के अतिक्रमण, दुर्बल के दमन अथवा समाज की मर्यादा को भंग करने के रूप में नहीं किया। इसके लिए एक के बाद एक करके उन्हें निरन्तर कठोर परीक्षाओं में से ही गुज़रना पड़ा। उनके जीवन की सबसे बड़ी और कठिन परीक्षा थी पिता के वचनों की रक्षा के लिए उनकी और विमाता कैकेयी की आज्ञा को शिरोधार्य कर वन जाना। इसके पीछे एक दीर्घकालीन नैतिक एवं सामाजिक परम्परा थी। कुंड

ऋषि को पिता की आज्ञा से गोहत्या का पाप करना पड़ा था। सगर के पुत्र पिता की आज्ञा से ही धरती खोद कर उसमें समा गए थे। परशुराम ने पिता की आज्ञा से अपनी मां तक का वध कर डाला था। ययाति के मांगने पर पुरु ने उन्हें अपना यौवन दे दिया था, तब भला भारत की नैतिक परम्परा को और भी ऊंचा उठाने वाले राम पितृ-आज्ञा से राज त्याग कर वन जाने में क्या दुविधा महसूस करते? पिता की आज्ञा शिरोधार्य कर उन्होंने न केवल अपने परिवार की, राज्य की, बल्कि तत्कालीन समाज और आगे आने वाले युगों की शांति और सुव्यवस्था की भी रक्षा की। सुसभ्य और सुसंस्कृत परिवारों में न केवल पिता और गुरु की, वरन् सभी गुरुजनों की आज्ञा का पालन एक बड़ा ही सामान्य तथा पवित्र कर्तव्य समझा जाता रहा है। जहां इसकी उपेक्षा हुई है, घर, परिवार और समाज में अव्यवस्था आई है। इतिहास में ऐसे उदाहरणों की भी कमी नहीं है, जहां पिता की आज्ञा मानना तो दूर रहा, उसे मार कर महत्वाकांक्षी लोग राजगद्दी पर बैठे हैं। आज उनको कितने लोग जानते हैं? इस अनर्थ के फलस्वरूप उनका अनीति से हथियाया गया राज्य ही नहीं, समूचा वंश ही मिट गया। इसके विपरीत माता-पिता की आज्ञा मानने वाले और आते हुए राज्य को ठुकरा देने वाले राम सूर्य-चन्द्र की तरह अजर अमर हो गए हैं।

राम की दूसरी कड़ी और इससे भी कहीं बड़ी परीक्षा थी केवल एक नागरिक के आशंका का रूप सीता को अग्नि-परीक्षा का दण्ड देना। पिता की आज्ञा मान कर राम का वन आना तो पारिवारिक तथा सामाजिक शांति रक्षा के लिए आवश्यक माना जा सकता है, पर जन-मत की अवहेलना न कर अपनी सती साध्वी तथा सब प्रकार से असंदिग्ध और कठोर कर्तव्यपरायण पत्नी को यह दण्ड देना, उनकी अपनी मानसिक शांति और सुख की बहुत बड़ी बलि थी, फिर भी परिवार, समाज और लोक की शांति, सच्चरित्रता तथा अक्षुण्णता की रक्षा के लिए उन्हें ऐसा करना पड़ा। इतने बड़े आत्म-त्याग के उदाहरण संसार के इतिहास में अन्यत्र शायद ही कहीं मिलें। स्वयं सीता ने भी इसके लिए पति को कभी दोषी नहीं माना, क्योंकि वे जानती थीं कि राम कभी अन्याय या अधर्म के दोषी नहीं हो सकते। जो कुछ उन्होंने किया या उन्हें करना पड़ा, वह घर, कुटुम्ब परिजनों और समाज के ही नहीं स्वयं सीता और राम के लिए भी कल्याणकारी, शुभ तथा शिव होगा। पति की आज्ञा मानने में ही सीता को अपना और सारे कुटुम्ब तथा समाज का कल्याण दिखाई दिया। इस धारणा और विश्वास के पीछे कितनी प्रबल नैतिक मान्यता थी, कितना दृढ़ आत्म विश्वास और सहिष्णुता थी, इसकी सहज

ही कल्पना की जा सकती है। वे केवल राम की सहधर्मिणी ही नहीं, तुलसीदासजी के मतानुसार उनकी सच्ची भक्त भी थीं :

प्रीति राम सों नीति पथ, चलिय राग रस जीति ।
तुलसी संतन के मतै, इहै भगत की रीति ।।

और सच्चे भक्त की इस नीति का निर्वाह करनेवाली सीता के सम्बन्ध में अनुसूया का यह कथन ध्यान देने योग्य है :

सुनु सीता तव नाम सुमिरि नारि पतिव्रत करहिं ।

आज भी भारत में एक आदर्श पतिव्रता या सती के रूप में सीता का उल्लेख किया जाता है। यह है उस समय की नैतिक मूल्य मान्यताओं का महत्व और उनका दूरव्यापी प्रभाव।

अब राम और भरत के सम्बन्धों को देखिए । पिता की आज्ञा से घर और राज्य छोड़ आने पर भी राम प्रजा जनों के प्रति आज कर्त्तव्य को एक क्षण के लिए भी न भुला सके। उन्होंने सुमन्त्र के हाथ भरत को सन्देश भेजा :

पुरजन परिजन सकल निहोरी । तात सुनाएहु बिनती मोरी ।।
सोइ सब भांति मोर हितकारी । जाते रह नरनाहु सुखारी ।।
कहब संदेस भरत के आए । नीति न तजिअ राजु पद पाए ।।
पालेहु प्रजहिं करम मन बानी । से एह मातु सकल सम जानी ।।
और निबाहेहु भायप भाई । करि पितु मातु सुजन सेवकाई ।।
तात भांति तेहि राखब राऊ । सोच मोर जेहिं करै न काऊ ।।

अयोध्या पहुंचने पर भरत अपनी मां की कुटिलाई पर क्रुद्ध हुए। दशरथ के मरण का दुख राम के वन-गमन के बड़े दुख के सामने वे भूल गए और बोले :

पितु सुरपुर बन रघुबर केतू । में केवल सब अनरथ हेतू ।।
धिग मोहिं भएउं बेनु बन आगी । दुसह दाह दुख दूषन भागी ।।

× × ×

तजि स्रुति पंथ बाम पथ चलहीं । बंचक बिरचि भेष जगु छलहीं ।।
तिन्ह के गति मोहिं संकर देऊ । जननी जौं एहु जानों भेंऊ ।।

इस पर कुल गुरु वशिष्ठ ने उन्हें सब प्रकार से समझाया कि राजा राज्य तुम्हीं को दे गए हैं। तुम्हारी माता की भी यही आज्ञा है। इसलिए उनकी आज्ञा मान कर तुम इसे सम्हालो, इसीमें सब की भलाई है। मन्त्रियों ने भी हाथ जोड़ कर कहा कि गुरु, पिता और माता की आज्ञा का आप अवश्य

पालन कीजिए । इस तेहरी आज्ञा के बावजूद भरत असमंजस में नहीं पड़े । अपने कर्तव्य के बारे में वे इतने स्पष्ट थे कि उन्होंने बड़ी दृढ़ता से कहा :

पितु सुरपुर सिय रामु बन, करन कहहु मोहिं राजु ।
एहि तें जानहु मोर हित, कै आपन बड़ काजु ।।

यह कोई ताना या व्यंग नहीं था, यथार्थ में उनका विश्वास था कि :

कहौं सांचु सब सुनि पतिआहू । चाहिअ धरम सील नरनाहू ।।
मोहिं राजु हठ देइहउ जबहीं । रसा रसातल जाइहि तबहीं ।।

इसके पीछे कितना बड़ा और व्यापक तथ्य था । यदि भरत कैकेयी के षड्यंत्र से मिला राज्य स्वीकार कर लेते, तो इसकी जो अस्वस्थ प्रतिक्रिया होती, वह निश्चय ही सारे संसार को रसातल ले जाती । अपनी व्यक्तिगत प्रतिष्ठा और प्रभुता से ऊपर उठकर जनहित का इतना दूरव्यापी उद्देश्यपरक दृष्टिकोण संसार के इतिहास में और कहां मिलेगा ?

इसके बाद जब भरत राम से जाकर मिले और अपने राज्य स्वीकार न करने के कारणों, को उन्होंने बतलाया, तो राम की प्रतिक्रिया कैसी हुई ?

भरतहिं परम धुरंधर जानी । निज सेवक तन मानस बानी ।।

× × ×

नाथ सपथ पितु चरन दुहाई । भयउ न भुवन भरत सम भाई ।।

ऐसे भाई पर भला किसको गर्व न होगा ? और फिर भरत अपने कुल और राजधर्म की मर्यादा निबाहने के लिए सिया राम के प्रतीक स्वरूप दो प्रेम रत्न लेकर लौट आए :—

चरन पीठ करुनानिधान के । जनु जुग जामिक प्रजा प्रान के ।।
संपुट भरत सनेह रतन के । आखर जुग जनु जीव जतन के ।।

इस तरह मानवी सम्बन्धों के नैतिक आधार के एक से एक सुन्दर प्रतीक 'रामचरित मानस' में भरे पड़े हैं। सम्बन्धियों, कर्मचारियों और सेवकों के ही नहीं, उदाहरण के लिए सुग्रीव ही को लीजिए । जब राम ऋष्यमूक पर्वत के निकट पहुंचे, तो हनुमान ने कहा कि इस पर्वत पर वानरराज सुग्रीव रहता है, वह आपकी मैत्री का इच्छुक है। सीता की खोज करने में उससे बड़ी सहायता मिलेगी । राम इसके लिए राजी हो गए । पर मित्र बनते ही जब सुग्रीव ने उन्हें बताया कि वह अपने बड़े भाई बालि से, जिसने उसका सर्वस्व ही नहीं, उसकी स्त्री तक को छीन लिया है, बड़ा त्रस्त है, तो राम की दोनों विशाल भुजाएं फड़क उठीं । वे बोले—मैं एक ही बाण से बालि को मार डालूंगा और

वह ब्रह्मा तथा रुद्र की शरण में जाकर भी बच नहीं पाएगा । इसके पीछे था उनका मित्र धम :

जे न मित्र दुख होंहि दुखारी । तिन्हहिं बिलोकत पातक भारी ।।
निज दुख गिरि सम रज करि जाना । मित्र क दुख रज मेरु समाना ।।

इस तरह हम देखते हैं कि घर, परिवार, समाज और देश-विदेश के समूचे मानवीय सम्बन्धों को रामराज्य में एक नैतिक पवित्रता दी गई। मनुष्य को हिंस्र पशु बनने से रोक कर श्रेष्ठ मनुष्य बनाने के लिए धर्म और कर्तव्य का एक ऐसा राम-रस प्रस्तुत किया गया, जिससे बचना और जिसे लेकर कुपथ पर जाना असम्भव हो गया। इस सम्बन्ध में तुलसीदासजी की यह चेतावनी भूलनी नहीं चाहिए :

स्रुति सम्मत हरिभक्ति पथ, संजुत बिरति बिवेक ।
तेहि न चलहिं नर मोह बस, कल्पहिं पंथ अनेक ।।

M33DPD/64—GIPF